Notes

M.A-Political Science

Semester -2nd

Western Political Thought -II

Paper Code- 24POL202DS01

Syllabus

Unit 1: LOCKE : Human nature, State of Nature, Social Contract Theory. Theory of Natural Rights, Views on Limited Government. ROUSSEAU : Human Nature, State of Nature, Social Contract Theory, Theory of General Will.

Unit 2: BENTHAM : Utilitarianism J.S. MILL: Revision of Bentham's Utilitarianism. Theory of Liberty. Views on Representative Government

Unit 3: HEGEL : Dialectical Method Theory of State T.H. GREEN : Views on Rights, Freedom and State

Unit 4: MARX: Theory of Dialectical Materialism, Theory of Historical Materialism, Theory of Class Struggle. Theory of State

Index

Content.	Page No.
Unit-I	3-17
Unit-II	17-28
Unit-III	28-40
Unit-IV	40-47

Unit-I

जॉन लॉक (John Locke)

Q. लॉक के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (Critically examine the theory of Social Contract of Locke.)

उत्तर- जॉन लॉक हॉब्स के समान राज्य को सामाजिक समझौते की उपज मानता है। वह राज्य की उत्पत्ति के उस दैवीय सिद्धान्त का खण्डन करता है, जिसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा की गई है और राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। लॉक के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की व्याख्या के लिए मानव प्रकृति और प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करना आवश्यक है। जॉन लॉक के सामाजिक सिद्धांत की व्याख्या इस प्रकार है —

1. मानव स्वभाव (Human Nature)-लॉक ने मानव स्वभाव का वर्णन अपनी पुस्तक 'मानव प्रकृति सम्बन्धी निबंध' (Essay concerning Human Nature) में किया है। लॉक व्यक्ति को शान्ति-प्रिय, दयालु और सामाजिक प्राणी मानता है। वह व्यक्ति को ऐसा तर्कशील (Rational) और बुद्धिमान प्राणी मानता है, जो अपनी विवेक-बुद्धि के कारण एक नैतिक व्यवस्था स्वीकार करता है और उसी के अनुसार व्यवहार करता है। फिर भी, लॉक यह स्वीकार करता है कि मनुष्य हमेशा अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता है। उदाहरण के लिए वह सदैव सत्य नहीं बोलता है और कभी अपने पड़ोसी की हत्या भी कर देता है, लेकिन विवेकशील और ज्ञानवान होने के कारण वह इतना अवश्य जानता है कि उसे झूठ नहीं बोलना चाहिए और अपने पड़ोसी की हत्या नहीं करनी चाहिए। लॉक का मनुष्य कर्तव्य की पुकार सुनने वाला और उसके अनुसार आचरण करने वाला है।

2. प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)-लॉक राज्य की उत्पत्ति से पहले की प्राकृतिक अवस्था को शान्तिपूर्ण अवस्था मानता है। लॉक के मतानुसार इस अवस्था में सभी व्यक्ति समान हैं। इसक साथ ही इस अवस्था में व्यक्ति स्वतन्त्र भी है; किन्तु यह स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता या स्वेच्छाचारिता बिल्कुल भी नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में मानव का व्यावहार विवेक-बुद्धि पर आधारित प्राकृतिक नियमों द्वारा नियन्त्रित होता है। इस अवस्था में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित व उसे आदेश देने वाला कोई सम्प्रभुत्व-सम्पन्न शासक नहीं है, बल्कि उसका स्वयं का विवेक ही उसकी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाता है। उसका विवेक उसे इस बात का बोध कराता है कि जैसा व्यावहार वह स्वयं के लिए नहीं चाहता है, वैसा व्यावहार उसे दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए। साथ ही, जहाँ उसके अपने प्राण खतरे में न हों, तो उसे यथासम्भव दूसरे के प्राणों की रक्षा करनी चाहिए। प्राकृतिक नियमों से नियन्त्रित होने के कारण यह अवस्था हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था जैसी भयावह और युद्ध की अवस्था नहीं है। लॉक के मतानुसार मनुष्य के अन्दर सामाजिकता की भावना है, इसीलिए प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सहयोग, भाईचारे और आत्म-रक्षा की जवस्था है।

3. प्राकृतिक अधिकार एवं प्राकृतिक कानून (Natural Rights and Natural Laws)-लॉक के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के पास निम्नलिखित तीन अधिकार थे-

(i) जीवन का अधिकार (Right to Life)- प्राकृतिक अवस्था में जीवन की रक्षा व्यक्ति की सबसे प्रबल इच्छा थी और यह इच्छा ही उसकी सभी क्रियाओं का प्रेरक तत्त्व थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले सभी विवेकशील कार्य, जीवन के अधिकार में सम्मिलित किए जा सकते हैं।

(ii) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Liberty)- प्राकृतिक अवस्था में स्वतन्त्रता के अधिकार से हॉब्स का अभिप्राय मानमाने कार्य से है, लेकिन लॉक इससे सहमत नहीं है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्राकृतिक नियम, जो नैतिक नियम ही है, का बन्धन लगाता है। अतः उसका व्यक्ति प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत ही, प्राकृतिक अवस्था में स्वतन्त्रता का उपभोग करता है।

(iii) सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property)-लॉक के अनुसार आरम्भ में प्रकृति की सभी वस्तुओं पर सभी का अधिकार था, किन्तु आगे चलकर इस स्थिति में बदलाव आया। वह कहता है कि जब कोई व्यक्ति अपने श्रम को किसी वस्तु में जोड़ देता है, तो वह वस्तु उस की हो जाती है। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में लॉक वस्तुओं पर व्यक्तिगत नियन्त्रण स्थापित करता है। हॉब्स की तरह लॉक भी स्वीकार करता है कि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए प्राकृतिक नियमों की व्यवस्था थी, किन्तु ये नियम सहज भावना (Instinct) नहीं, बल्कि बुद्धि पर आधारित नैतिक नियम थे।

4. समझौते के कारण (Causes of Contract) - लॉक के मतानुसार यद्यपि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीय करते

हुए जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अपने अधिकारों का उपभोग करता था, लेकिन तब भी इस अवस्था में तीन प्रकार की असुविधाएँ या कठिनाइयों थीं। प्रथम, प्राकृतिक कानून की स्पष्ट व्याख्या करने वाली कोई संस्था न थी, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धि और स्वार्थ के अनुसार इनकी व्याख्या करते थे। द्वितीय, प्राकृतिक कानून या इनके अनुरूप लिए गए निर्णयों को लागू करने वाली किसी संस्था का अभाव था तथा तृतीय, न्याय करने और दण्ड देने वाली कोई संस्था न थी, जिसके कारण सभी व्यक्तियों को यह अधिकार था और उनके द्वारा न्याय करने वा दण्ड देने के साधनों और पद्धति में एकरूपता न थी।

5. सामाजिक समझौते की प्रकृति (Nature of Social Contract) -लॉक के अनुसार सभी व्यक्तियों के समान होने के कारण यह समाज के सभी व्यक्तियों का सभी व्यक्तियों के साथ किया जाने वाला समझौता है। इस समझौते के द्वारा राजनीतिक समाज (राज्य) का जन्म होता है, किसी सरकार या शासक का नहीं। इस समझौते के अन्तर्गत व्यक्तियों ने अपने समस्त अधिकारों का परित्याग नहीं किया, बल्कि अपने इस अधिकार का ही परित्याग किया कि वे स्वयं न तो प्राकृतिक कानूनों की व्याख्या करेंगे; न इन्हें लागू करेंगे और न ही इनके अनुसार न्याय करने और दण्ड देने का कार्य करेंगे। लॉक के इस सिद्धान्त के विवरण से ऐसा लगता है कि जैसे वह दो समझौतों की बात करता है। उसके पहले समझौते से, जो सभी व्यक्तियों का सभी व्यक्तियों के साथ होता है, एक राजनीतिक समाज (राज्य) की उत्पत्ति होती है और दूसरा समझौता, जो इस समाज और सरकार के मध्य सम्पन्न होता है, सरकार की उत्पत्ति होती है। लॉक के अनुसार समझौते के बाद भी व्यक्ति प्राकृतिक कानूनों को मानने के लिए उसी प्रकार बाध्य है, जैसा कि वह इससे पहले था। लॉक इस समझौते को न केवल बुद्धि-संगत, बल्कि ऐतिहासिक भी मानता है। उसकी धारणा है कि राज्य की उत्पत्ति इतिहास की उस प्रारम्भिक अवस्था में हुई थी, जब इस घटना को लिखने के साधनों का आविष्कार नहीं हुआ था।

लॉक द्वारा वर्णित इस समझौते की निम्नलिखित **विशेषताएँ** हैं-

(i) इस समझौते में समाज का प्रत्येक व्यक्ति भागीदार है। वह समझौता सभी व्यक्तियों ने सभी के साथ किया है और इस नाते यह समझौता सभी पर लागू होता है। साथ ही यह समझौता सर्वसम्मति से हुआ है; न तो इस पर मत-विभाजन हुआ और न ही किसी ने इसका विरोध किया।

(ii) इस समझौते में व्यक्तियों ने अपने समस्त अधिकारों का परित्याग या समर्पण नहीं किया, बल्कि उन्होंने प्राकृतिक कानूनों की व्याख्या करने, इन्हें लागू करने, और न्याय तथा दण्ड देने के अपने अधिकारों का ही परित्याग किया। प्राकृतिक अधिकार, जिनका उपभोग व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में किया करते थे, का व्यक्तियों ने समर्पण नहीं किया, इसीलिए वे अभी भी उनके पास हैं।

(iii) लॉक दो समझौतों की बात कर रहा प्रतीत होता है। पहले समझौते से राजनीतिक समाज की उत्त्पत्ति होती है और दूसरे समझौते से, जिसे वह राजनीतिक समझौता कहता है, सरकार की उत्पत्ति होती है। इस बाद वाले समझौते में शासक वर्ग सम्मिलित है, क्योंकि यह समझौता समाज और शासक (सरकार) के बीच हुआ है। इसीलिए शासक समझौते की शर्तों को मानने के लिए बाध्य है।

(iv) यह समझौता कभी रद्द न किए जाने वाला है। इसमें ऐसा कोई प्रावधान ही नहीं रहा कि इसको समाप्त किया जा सके। उसके मतानुसार जिसने इस समझौते को स्वीकार कर लिया, वह इसे भंग करके वापिस प्राकृतिक अवस्था में नहीं लौट सकता है।

(v) यह समझौता न केवल उन व्यक्तियों पर लागू होता है, जिन्होंने इसको सम्पन्न किया है, बल्कि आने वाली पीढ़ियों पर भी लागू होता है, क्योंकि उनकी इसके लिए स्पष्ट सहमति (Explicit Consent) भले ही न हो, अन्तर्निहित सहमति (Tacit Consent) अवश्य ही है, क्योंकि व्यक्ति बचपन से एक नागरिक समाज में रहते आए हैं। फिर भी, यह इन्हें इसके लिए बाध्य नहीं करता है। उसके मतानुसार वे चाहें तो प्राकृतिक अवस्था में रह सकते हैं और चाहें तो अलग समाज का निर्माण कर सकते हैं। वैसे लॉक का यह तर्क अस्पष्ट और भ्रामक है।

(vi) सामाजिक समझौते का उसका सिद्धान्त राज्य और समाज में स्पष्ट अन्तर करता है। वह कहता है कि पहले समझौते द्वारा राजनीतिक समाज (राज्य) की और दूसरे समझौते द्वारा सरकार की उत्पत्ति हुई। राजनीतिक समाज का निर्माण व्यक्ति की सामाजिकता की प्रवृत्ति के कारण हुआ है तो सरकार का निर्माण प्राकृतिक अवस्था में पायी जाने वाली असुविधाओं को दूर करने के लिए हुआ है।

(vii) इस समझौते की अन्य विशेषता है-अल्पसंख्यकों का बहुमत की इच्छा के अधीन होना, क्योंकि यह समाज की व्यवस्था के संचालन के लिए बहुत आवश्यक है। अतः अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों की इच्छा का पालन करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, लॉक अल्पसंख्यकों को बहुमत के शासन के अधीन कर देता है।

(viii) यह समझौता जनता की सहमति पर आधारित है। लॉक के मतानुसार कोई भी व्यक्ति इस नवीन समाज में सहमति के बिना प्रवेश

नहीं कर सकता है। उसके अपने शब्दों में, "सहमति ही विश्व में प्रत्येक वैच सरकार का निर्माण करती है।"

6. राज्य की प्रकृति (स्वरूप) (Nature of State) -लॉक के मतानुसार समझौते के बाद भी सम्प्रभुता जनता में निहित रहती है, क्योंकि उसने अपने समस्त अधिकार सरकार को नहीं सौंपे हैं। जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार जो प्राकृतिक अवस्था में उसके पास थे, आज भी उसके पास हैं। वस्तुत समझौते का उद्देश्य ही व्यक्ति के, प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना है। अतः राज्य इन अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। उसके मतानुसार राज्य को तीन ही कार्य करने हैं-प्राकृतिक कानूनों की व्याख्या, इन्हें लागू करना और न्याय और दण्ड की व्यवस्था करना। लॉक के राज्य की व्याख्या; इसकी विशेषताओं के माध्यम से की जा सकती है। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

(i) राज्य की सत्ता जनता के लिए है, न कि जनता राज्य के लिए है। वह बल देकर कहता है कि राज्य का उद्देश्य समुदाय या समाज की भलाई (Good of the Community) करना है। इस प्रकार राज्य एक साधन और व्यक्ति एक साध्य हुआ।

(ii) जनता की सहमति ही राज्य का आधार है। जनता अपने हितों की सुरक्षा की दृष्टि से राज्य के आदेशों का पालन करती है। यदि सरकार जनता के हितों के प्रतिकूल कार्य करती है, तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह जनता की सहमति के बिना शासन कर रही है। ऐसी स्थित में जनता शासक के विरुद्ध विद्रोह कर सकती है।

(iii) लॉक का राज्य कानून के शासन के नियम से संचालित एवं शासित होता है। उसकी धारणा है कि शासन जनता के उद्घोषित एवं जनता को ज्ञात स्थायी कानूनों के द्वारा होना चाहिए, न कि जल्दबाजी में दी गई आज्ञाओं (Extemporary Decrees) के द्वारा। इस प्रकार लॉक के राज्य में संविधानवाद (Constitutionalism) की अवधारणा व्याप्त है।

(iv) लॉक का राज्य सीमित कार्यों का सम्पादन करने वाला है। वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा की दृष्टि से सरकार को सिर्फ तीन कार्य करने के लिए सौंपता है। ये तीन कार्य हैं-सुरक्षा, सुव्यवस्था और न्याय। इन कार्यों के अतिरिक्त, वह सरकार को और कोई कार्य, यथा-शिक्षा, स्वास्थ्य, नैतिकता आदि नहीं सौंपता है। लॉक दो कारणों से सरकार की शक्तियों को सीमित करता है-

प्रथम, सरकार अपनी सत्ता जनता से ग्रहण करती है और सम्प्रभुता जनता में निवास करती है और द्वितीय, जनता सरकार को यह सत्ता न्याय के रूप में कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रदान करती है।

आलोचना (Ciriticism)- यद्यपि लॉक ने सामाजिक समझौते के अपने सिद्धान्त में हॉब्स के तिद्धान्त में निहित दोषों को दूर करने का प्रयास किया है, लेकिन ऐसा करते समय है उसके अपने सिद्धान्त में कई कमियों अथवा असंगतियाँ आ गई हैं। उसके इस सिद्धान्त में निम्नलिखित असंगतियों मौजूद हैं-

1. गैर-ऐतिहासिक सिद्धान्त (Unhistorical Theory)-लॉक का यह सिद्धान्त एक काल्पनिक सिद्धान्त है-एक ऐसा सिद्धान्त, जिसकी ऐतिहासिक आधार पर पुष्टि नहीं की जा सकती है। हमें इतिहास में ऐसे किसी समझौते का कोई प्रमाण नहीं मिलता है, जिससे इस तथ्य की पुष्टि होती हो कि कभी मनुष्यों ने समझौता करके राज्य का निर्माण किया था। वस्तुतः किसी विशेष समय में सहसा राज्य की उत्पत्ति नहीं हुई, बल्कि इसका क्रमिक विकास हुआ है, जिसमें धर्म, शक्ति, रक्त सम्बंध, राजनीतिक चेतना आदि अनेक तत्वों का योगदान रहा है।

2. अस्पष्ट सिद्धान्त (Ambiguous Theory)-लॉक के सामाजिक समझौते के इस सिद्धान्त में स्पष्टता का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि लॉक ने इसका प्रतिपादन हॉब्स के चिन्तन के विरोध के लिए और 1688 की इंग्लैण्ड की शानदार क्रान्ति का औचित्य सिद्ध करने के लिए किया था। यही कारण है कि उसके सिद्धान्त में स्पष्टता की कमी है। उदाहरण के लिए वह यह स्पष्ट नहीं करता है कि समझौता एक हुआ या दो। इसी तरह वह यह भी स्पष्ट नहीं करता है कि यह समझौता भावी पीढ़ियों पर लागू होता है या नहीं। एक ओर तो वह भावी पीढ़ियों की अन्तर्निहित सहमति के आधार पर इसे उन पर लागू कर देता है और दूसरी ओर वह इनको प्राकृतिक अवस्था में लौटने और अपना अलग समाज बनाने का अधिकार भी प्रदान करता है।

3. बहुमत की तानाशाही की स्थापना (Establishment of Dictatorship of Mejority)-लॉक सामाजिक समझौते के इस सिद्धान्त के द्वारा अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यओं के शासन के अधीन कर देता है। वह बहुमत को सर्वसम्मति मान बैठा है। ऐसी स्थिति में अल्पसंख्यकों के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार खतरे में पड़ जाएँगे, क्योंकि बहुसंख्यक लोग अपनी संख्या के आधार पर ऐसे कानूनों का निर्माण कर सकेंगे, जो अल्पसंख्यकों के अधिकारों का अतिक्रमण करते हों।

4. विरोधभासी सिद्धान्त (Paradoxic Theory)-लॉक का यह सिद्धान्त अनेक प्रकार के विरोधाभासों से परिपूर्ण है। उदाहरण के लिए यह प्राकृतिक अवस्था को एक शान्तिपूर्ण अवस्था कहता है, लेकिन साथ में वह इस अवस्था में विद्यमान् कुछ कठिनाइयों या असुविधाओं का उल्लेख भी करता है, जो झगड़े का कारण बन जाती हैं। इसी प्रकार वह प्राकृतिक अवस्था को राज्य से पूर्व की अवस्था कहता है, लेकिन दो समझौतों का आभास देकर वह इसे झुठला देता है, क्योंकि प्रथम समझौते द्वारा वह राजनीतिक समाज का निर्माण होने की बात करता है और दूसरे समझौते द्वारा वह सरकार के निर्माण होने की बात करता है। इस प्रकार तो प्राकृतिक अवस्था राजनीतिक समाज से पूर्व की अवस्था बन जाती है; न कि सरकार से पूर्व की अवस्था।

निष्कर्ष (Conclusion) - लॉक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में अनेक दोष हैं, जिनके आधार पर उसकी काफी आलोचना की गई है। एक बार देखने से ऐसा भी लगता है कि उसके इस सिद्धान्त में कोई नवीनता नहीं है, क्योंकि इसके विवेचन में वह लगभग उन्हीं अवस्थाओं का वर्णन करता है, जिनका वर्णन हॉब्स ने किया है। फिर भी, उसका यह सिद्धान्त अनेक दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। लॉक ऐसा विचारक है, जिसने सीमित सरकार या संवैधनिक सरकार की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। इसके साथ ही वह सरकार के तीन अंगों और इनके अलग-अलग तीन कार्यों का भी उल्लेख करता है, जिससे आगे चलकर शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को प्रेरणा मिली। साथ ही उसे अपने पूर्ववर्ती विचारकों के चिन्तन में जो कमियाँ उसे दिखायी दीं, उसने उन्हें दूर करने का प्रयास भी किया है।

Q. राजनैतिक दर्शन को लॉक के योगदान का वर्णन करो। (Describe the contribution of Locke to political philosophy.)

अथवा

लॉक के राजनैतिक विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या करो। (Critically explain the political ideas of Locke.)

उत्तर : राजनैतिक दर्शन के क्षेत्र में लॉक के योगदान का निम्न प्रकार से वर्णित किया जा सकता है-

1. मानवीय अधिकारों का संस्थापक (Founder of human rights): लॉक ने अपने प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा में व्यक्ति को महत्वपूर्ण माना है। लॉक के प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या का ही परिणाम था कि राज्य की अपेक्षा व्यक्ति को उद्देश्य निर्धारित किया गया। लॉक ने व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार मानकर राज्य के लिए यह आवश्यक कर दिया कि यह न केवल इन अधिकारों को प्रदान करे अपितु यह भी सुनिश्चित करे कि सभी व्यक्ति समान रूप से इनका उपयोग कर सके और इनके उपयोग के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर किया जाए।

2. गोपनीयता के अधिकार का संस्थापक (Founder of the right of secrecy): निरंकुश राजतंत्रों का विरोध करने के लिए लॉक ने सरकार और राज्य के कार्य क्षेत्र केवल अपने नागरिकों की बाह्य और आन्तरिक आक्रमणों से सुरक्षा करना है। राज्य को व्यक्तियों के अन्य मामलों में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। कालान्तर में लॉक के इस विचार ने व्यक्तिगत गोपनीयता के अधिकार को जन्म दिया।

3. उदारवादी राज्य का संस्थापक (Founder of liberal state): लॉक ने अपने विचारों में उदारवादी राज्य की स्थापना पर बल दिया है। इसके अन्तर्गत उसने राज्य को साधन और व्यक्ति को साध्य माना है। उसने राज्य की सर्वोच्च शक्ति व्यक्ति में निहित की है।

4. शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त (Theory of separation of powers): लॉक की एक महत्वपूर्ण देन उसका शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त है। उसने सबसे पहले सरकार की तीन प्रमुख शक्तियों और अंगों का वर्णन किया है। उसने सरकार के तीन प्रमुख कार्य कानून निर्माण, कानून लागू करना, और कानून की व्याख्या करना बताए हैं। उसका कहना है कि वैधानिक और कार्यपालिका के कार्यों को एक ही संस्था द्वारा नहीं किया जाना चाहिए।

5. लोकप्रिय प्रभुसत्ता का सिद्धान्त (Theory of popular sovereignty) : लॉक ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसने शासन प्राणाली के तीन प्रकार बताए हैं-एक राजतंत्र, दूसरा अल्पतंत्र और तीसरा प्रजातंत्र। उसने प्रजातंत्र को सबसे अच्छी शासन व्यवस्था माना है। उसका कहना है कि प्रजातंत्र में ही लोगों का कल्याण हो सकता है क्योकि राज्य की सर्वोच्च शक्ति जनता में निहित होती है।

6. राज्य, सरकार व समाज में अन्तर (Difference between State, Government and Society): हॉव्स ने राज्य और समाज तथा राज्य और सरकार में कोई अन्तर नहीं किया है लेकिन लॉक ने राज्य, समाज और सरकार में व्यापक अन्तर किया है। इसी कारण से लॉक ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दो समझौतों का वर्णन किया हैं पहले समझौते से समाज का निर्माण और दूसरे समझौते से वह राज्य के

निर्माण की बात कहता है। लॉक ने राज्य और सरकार में भी अन्तर किया है। उसने कहा है कि लोगों के सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके उनसे बदलने का अधिकार है और इससे राज्य नष्ट नहीं होता।

7. व्यक्तिवाद का संस्थापक (Founder of Individualism): लॉक व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थक था। उसने राजनैतिक दर्शन में व्यक्तिवाद की नवीन अवधारणा का विकास किया। उसने व्यक्ति को अपने राजनैतिक विचारों का केन्द्र बिन्दु बना कर स्पष्ट किया कि व्यक्ति ही राज्य की उत्पत्ति, उसके विकास आदि का केन्द्रीय तत्व है। राज्य के निर्माण के बाद भी व्यक्ति का महत्व समाप्त नहीं होता। उसके व्यक्तिवादी विचारों की स्पष्ट झलक हमें उसके प्राकृतिक अधिकार, ऐच्छिक सदस्यता और सरकार का विद्रोह करने के अधिकार में देखने को मिलती है।

8. सरकार के विरोध का अधिकार (Right to resist the government) : लॉक को सरकार के विरुद्ध विद्रोह के अधिकार का भी प्रतिपादक माना जाता है। उससे पहले के विचारकों ने चाहे यह अरस्तू, मैक्यिावली या हॉब्स था, सबसे यही प्रयत्न किया कि किस प्रकार से राज्य में क्रान्ति को रोका जाए। लेकिन लॉक ने ठीक इसके विपरीत विद्रोह को मान्यता प्रदान की और लोगों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए आवश्यक बताया।

9. उपयोगितावाद के लक्षण (Elements of Utilitarianism): लॉक के राजनैतिक दर्शन में हमें उपयोगितावाद के लक्षण भी देखने को मिलते हैं। यद्यपि लॉक ने स्पष्ट रूप से इसका प्रयोग नहीं किया है लेकिन जब वह व्यक्ति के कल्याण और भलाई के लिए प्रयत्न करता है राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है, तो इसमें उपयोगितावाद के लक्षण स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं।

10. धर्मनिरपेक्षता (Secularism): राजनैतिक दर्शन को लॉक की एक बड़ी देन उसका धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त है। आधुनिक राज्य प्रायः धर्मनिरपेक्ष राज्य है। लॉक यह बात कहने वाला पहला विचारक था कि राज्य को लोगों के धार्मिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

11. मार्क्सवादियों पर प्रभाव (Impact on Marxist)- लॉक ने केवल उदारवादियों को प्रभावित किया है बल्कि उसने कार्ल मार्क्स जैसे समाजवादी चिन्तकों पर भी अपना प्रभाव डाला है। लॉक ने सम्पत्ति सम्बन्धी अपने विचारों में सम्पत्ति उसे माना है जिसे व्यक्ति अपने शारीरिक श्रम के द्वारा अर्जित करता है। कार्ल मार्क्स ने पूंजी और श्रम के अध्ययन के आधार पर ही अपना अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of surplus value) विकसित किया है।

12. ईश्वरीय सिद्धान्त का विरोध (Opposition to divine theory): लॉक ने अपने समय में प्रचलित दैवीय कानूनों की आलोचना की है और उन्हें मानने से इन्कार कर दिया है। उसका कहना है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है और राज्य कोई ईश्वरीय संस्था नहीं है। राज्य का निर्माण व्यक्तियों ने अपनी भलाई के लिए किया है।

13. मनुष्य एक सामाजिक प्राणी (Man is a social being): लॉक ने व्यक्ति को एक सामाजिक और राजनैतिक प्राणी माना है। उसका कहना है कि प्राकृतिक अवस्था में भी मनुष्य अकेला नहीं था और समाज में रहता था। लेकिन सामाजिक जीवन में कुछ कठिनाइयां थीं जिन्हें दूर करने के लिए उसने अपने राजनैतिक विवेक से राजनैतिक समझौता करके राज्य का निर्माण किया।

14. प्रजातंत्र का संस्थापक (Founder of democracy): आज हम जो अधिकांश विश्व के देशों में प्रजातान्त्रिक प्रणाली देखते हैं, उसका निर्माता लॉक था। लॉक ने किसी भी सन्दर्भ में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर समझौता नहीं किया और उसके अस्तित्व को आवश्यक बताया। लॉक को राजनैतिक दर्शन में अपने लोकतन्त्र विचारों के कारण लोकतन्त्र का प्रवर्तक माना जाता है।

आलोचना (Criticism): लॉक के योगदान के साथ-साथ उसके विरोधाभास और पक्षपात एवं पूर्वाग्रह के कारण उसकी आलोचना भी की जाती है। पर ने लॉक की आलोचना करते हुए कहा है कि "लॉक की आलोचना करना कठिन नहीं है क्योंकि उसने अपने लेखन में अस्पष्टता और विरोधाभासों को दूर करने की परेशानी नहीं की है।"

लॉक के राजनैतिक दर्शन की आलोचना निम्न प्रकार से की जा सकती है-

1. विरोधाभास (Paradoxes): लॉक के मानव सम्बन्धी विचारों में हमें विरोधाभास देखने को मिलता है। एक ओर तो लॉक कहता है कि यह खुशी चाहता है और इसी के लिए कार्य करता है, दूसरी ओर उसी मनुष्य से अपेक्षा करता है कि उसे सार्वजनिक भलाई के लिए कार्य करना चाहिए। लॉक के राजनैतिक दर्शन के आधारों में से मानव स्वभाव ही उसका आधार है और उसके दर्शन के इस आधार में ही विरोधाभास है।

2. प्राकृतिक अवस्था का आधार नहीं (No basis of state of nature): लॉक के दर्शन का दूसरा आधार उसकी प्राकृतिक अवस्था का वर्णन है। उसका यह वर्णन ऐतिहासिक और तार्किक आधार पर गलत है। एक तो यह कि इतिहास में इस प्रकार के शान्तिपूर्ण सामाजिक जीवन का कहीं प्रमाण नहीं मिलता और दूसरा यह कि अगर ऐसा जीवन था तो मनुष्य ने अपने ऊपर शासन करने का अधिकार किसी दूसरे को क्यों दिया?

3. अधिकार राज्य में ही संभव (Rights are possible only in state) : लॉक के व्यक्तिवाद के लक्षण उसके प्राकृतिक अधिकारों में देखने को मिलते हैं। लेकिन अधिकार केवल राज्य में ही संभव होते हैं। प्राकृतिक अवस्था में राज्य का अस्तित्व ही नहीं था तो अधिकारों का अस्तित्व कैसे हो सकता है?

4. राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त गलत (Wrong theory of the origin of the state): लॉक ने सामाजिक समझौते के माध्यम से अपना राजनैतिक दर्शन दिया है राज्य की उत्पत्ति किसी सामाजिक समझौते का परिणाम नहीं है। राज्य की उत्पत्ति हुई ही नहीं अपितु राज्य का विकास हुआ है और इसमें अनेक तत्वों ने भूमिका निभाई है।

5. अस्पष्टता (Ambiguous): लॉक के विचारों में हमें स्पष्टता देखने को नहीं मिलती। उसने व्यक्ति, समाज, राज्य और सरकार के सम्बन्धों को स्पष्ट नहीं किया है। कहीं पर वह सरकार को प्राकृतिक अधिकारों का संरक्षक मानता है और दूसरी ओर राज्य की सर्वोच्च शक्ति लोगों में निहित कराता है। शक्ति के अभाव में सरकार कैसे अपने नागरिकों को सुरक्षा प्रदान कर सकती है, यह लॉक स्पष्ट नहीं कर पाया है।

6. कोई दार्शनिक आधार नहीं (No philosophical base): लॉक का दर्शन दार्शनिक आधार पर सही नहीं है। लॉक ने अपने विचार केवल 1688 की शानदार क्रान्ति को औचित्य प्रदान करने के लिए दिये हैं। उसका उद्देश्य संसद का समर्थन और सम्राट् का विरोध करना था। आने वाले समय में राज्य का स्वरूप क्या होना चाहिए, इस विषय में उसके विचार मौन है।

7. सम्पत्ति का अधूरा अर्थ (Partial meaning of property): लॉक ने प्राकृतिक अधिकारों में सम्पत्ति के अधिकार को सबसे अधिक महत्व प्रदान करके उसकी विस्तृत व्याख्या तो की है लेकिन सम्पत्ति का अर्थ अधूरा छोड़ दिया है। उसने शारीरिक श्रम से अर्जित वस्तु को सम्पत्ति माना है। जबकि सम्पत्ति को बिना शारीरिक श्रम के विरासत, दान, आदि से भी ग्रहण किया जा सकता है।

8. प्राकृतिक कानून के स्रोत का वर्णन नहीं (No mention of the source of Natural Law) : लॉक ने प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून के अस्तित्त्व को माना है। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में यह कानून व्यक्ति के व्यवहार पर अंकुश का काम करता है। लॉक ने यह नहीं बताया है कि प्राकृतिक कानून की उत्पत्ति कैसे हुई। उसने प्राकृतिक कानूनों का विवरण भी नहीं दिया है।

9. राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं (The membership of state is not optional) : लॉक के राजनैतिक दर्शन में सबसे बड़ी कमी यह है कि उसने राज्य की सदस्यता को ऐच्छिक बना दिया है। यह एक ऐसा विचार है जिससे राज्य के अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न हो सकता है।

10. अराजकतावादी (Anarchist) लॉक ने अपने विचारों से अराजकता को जन्म देने का प्रयत्न किया है। उसने नागरिकों के विद्रोह के अधिकार को मान्यता प्रदान करके राज्यों के स्थायित्व के लिए संकट उत्पन्न किया है।

11. नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative liberty): लॉक ने प्राकृतिक स्वतंत्रता का समर्थन किया है और राज्य से यह अपेक्षा की है कि वह व्यक्ति की इस स्वतन्त्रता पर कोई अंकुश न लगाए। इस प्रकार से उसने नकारात्मक स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। स्वतंत्रता का अभिप्राय व्यक्ति के व्यवहार पर प्रतिबन्धों का अभाव न होकर अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर उचित प्रतिबन्ध लगाना होता है।

12. पक्षपाती विचार (Prejudiced views): लॉक के राजनैतिक दर्शन पर पक्षपात का आरोप भी लगाया जाता है। वह स्वयं उस दल से सम्बन्धित था जो सम्राट् का विरोधी था और 1688 की शानदार क्रान्ति का सूत्राधार था। उसने स्वयं के व्यक्तिगत अनुभवों को राजनैतिक दर्शन का आधार दे दिया है।

13. नकारात्मक राज्य (Negative state): लॉक ने जिस राज्य की कल्पना की है वह एक नकारात्मक राज्य है। उसने राज्य के उन कार्यों का वर्णन किया है जो उसे नहीं करने चाहिएं।

14. पूंजीवाद का समर्थन (Support to Capitalism): लॉक ने अपने राजनैतिक दर्शन में अहस्तक्षेप के सिद्धान्त को जन्म दिया। इससे इंग्लैंड सहित पूरे यूरोप में पूंजीवाद का प्रभाव स्थापित हो गया और पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया जिसके कारण पूरी मानवता

को दो बार विश्व युद्ध की विभीषिका को सहन करना पड़ा।

निष्कर्ष (Conclusion) — अन्त में कहा जा सकता है कि लॉक को यद्यपि एक मौलिक विचारक नहीं माना जाता, परन्तु उसने अपने पूर्ववर्ती विचारकों के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके ऐसे व्यवहारिक राजनैतिक सिद्धान्तों की स्थापना की जो आधुनिक राज्यों की विशेषताएँ माने जाते हैं। आने वाले विचारको ने लॉक के विचारों की आलोचना नहीं की अपितु उनको सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

रूसो (Rousseau)

Q. रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (Critically examine Rousseau's Theory of General Will.)

उत्तर- रूसो के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की यह आलोचना की जाती है कि इसमें मौलिकता का अभाव है, क्योंकि यह लॉक के समझौते के सिद्धान्त का विस्तार मात्र है, किन्तु उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है, जो मौलिक भी है और जो राजनीतिक दर्शन के इतिहास में उल्लेखनीय महत्त्व भी रखता है।

रूसो के अनुसार सभी व्यक्ति सामाजिक समझौते के द्वारा समाज के लिए अपने अधिकारों का परित्याग करते हैं और इसके साथ ही उनकी व्यक्तिगत इच्छा का स्थान सामान्य इच्छा ले लेती है। इस सिद्धान्त को भली-भांति समझने के लिए हमें व्यक्ति की दो प्रकार की इच्छाओं का भेद समझ लेना चाहिए। रूसो की धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति में दो प्रकार की इच्छाएँ पायी जाती हैं-वास्तविक इच्छा (Actual Will) और आदर्श इच्छा (Real Will) ।

1. वास्तविक इच्छा (Actual will)-वास्तविक इच्छा से रूसो का अभिप्राय: मनुष्य की उस स्वार्थी, क्षणिक और अविवेकशील इच्छा से है, जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत हित की पूर्ति करना होता है। उदाहरण के लिए खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट करने वाले व्यक्ति का उद्देश्य पैसा कमाना होता है। इससे समाज को होने वाली हानि के विषय में वह नहीं सोचता है, क्योंकि व्यक्ति की वास्तविक इच्छा उसे अधिक-से-अधिक धन कमाने के लिए प्रेरित करती है। रूसो के मतानुसार इसी के कारण स्वर्णिम प्राकृतिक अवस्था निरन्तर बिगड़ती चली गई। नि:सन्देह यह इच्छा व्यक्ति के निम्न स्तर का प्रतीक है।

2. आदर्श इच्छा (Real will)-आदर्श इच्छा से रूसो का अभिप्राय मनुष्य की उस नि:स्वार्थी, स्थायी और विवेकशील इच्छा से है, जिसका उद्देश्य सामाजिक हित की पूर्ति करना होता है। इस इच्छा के अन्तर्गत व्यक्ति अपने विवेक से अपने तथा समाज के हित में समन्वय करता है। उदाहरण के लिए खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट करना व्यक्ति के निजी स्वार्थ की दृष्टि से ठीक है, लेकिन जब व्यक्ति अपने विवेक से यह सोचता है कि यह समाज के हित में नहीं है, तब वह आदर्श इच्छा से प्रेरित होता है। स्पष्टतया यह इच्छा व्यक्ति के उच्च स्तर की प्रतीक है।

व्यक्ति	A	B	C	D	E
1. वास्तविक इच्छा	A1	B1	C1	D1	E1
2. आदर्श इच्छा	A2	B2	C2	D2	E2

A व्यक्ति जब किसी कार्य को वास्तविक इच्छा के वशीभूत होकर करता है तो उसे हम A1 और जब उसी कार्य को आदर्श इच्छा के वशीभूत होकर करता है, तो उसे A2 कह सकते हैं। जब B व्यक्ति उसी कार्य को वास्तविक इच्छा के वशीभूत होकर करता है, तो उसे B1 और जब वह आदर्श इच्छा के वशीभूत होकर करता है, तो B2 कह सकते हैं। इसी प्रकार C व्यक्ति के कार्य C3और C2 हो सकते हैं। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा किसी कार्य के लिए ABC व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का योग होगी अर्थात् A2+ B2 +C2.....Z2 ही सामान्य इच्छा होगी।

सामान्य इच्छा का निर्माण (Formation of General Will)-रूसो का कहना है कि जब कभी जनता के सामने कोई विचारणीय प्रश्न आता है, तो व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों की दृष्टि से उस पर विचार करते हैं; किन्तु यदि वह समाज एक सभ्य समाज है और उसमें सामाजिकता की भावना मौजूद है, तो विचारों के आदान-प्रदान के दौरान व्यक्तियों के व्यक्तिगत हित एक-दूसरे के हित को समाप्त कर देते

हैं और इसकी जगह एक परिष्कृत सामाजिक हित का सृजन हो जाता है। यह, सामाजिक हित ही सामान्य इच्छा को जन्म देता है। दूसरे शब्दों में, जब किसी प्रश्न पर व्यक्ति अपनी स्वार्थी इच्छा का परित्याग करते हुए आदर्श इच्छा से प्रेरित होकर विचार करते हैं, तब सभी व्यक्तियों की आदर्श इच्छाएँ एक-दूसरे से एकाकार होकर सामान्य इच्छा का निर्माण करती हैं। इस तरह सामान्य इच्छा उनकी सामूहिक आदर्श इच्छा के रूप में प्रस्फुटित होती है।

सामान्य इच्छा का उद्देश्य सामान्य भलाई होता है, जरूरी नहीं है कि यह सर्वसम्मत्ति पर आधारित हो। स्वयं रूसो कहता है कि सामान्य इच्छा एक व्यक्ति की इच्छा भी हो सकती है, यदि उसमें सामान्य भलाई निहित हो। जिस इच्छा में सामान्य भलाई नहीं होती, भले ही उस पर सर्वसम्मति हो, वह सामान्य इच्छा नहीं हो सकती है। सामान्य इच्छा और सब की इच्छा में भेद करते हुए रूसो कहता है, "सामान्य इच्छा केवल सामान्य हितों का विचार करती है, जब कि सब की इच्छा व्यक्तिगत हितों का विचार करती है और वह व्यक्तिगत इच्छाओं के योग से अधिक कुछ नहीं होती है।" सामान्य इच्छा बहुमत की इच्छा से भी पृथक् होती है, क्योंकि बहुमत की इच्छा भी व्यक्तिगत हितों से प्रेरित हो सकती है।

रूसो की सामान्य इच्छा के निम्नलिखित **मुख्य तत्त्व** हैं-

1. प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत इच्छा सामान्य इच्छा का अंग होती है। यह उसमें सम्मिलित है।

2. किसी व्यक्ति-समूह की सामान्य इच्छा उसका निर्माण करने वाले सभी सदस्यों का सामान्य हित होती है।

3. सामान्य इच्छा कभी गलत नहीं होती है, क्योंकि यह समुदाय के श्रेष्ठ हितों का प्रतिनिधित्व करती है।

4. सामान्य इच्छा सदैव सामान्य हित का पोषक होती है।

5. सामान्य इच्छा सब व्यक्तियों की इच्छा से भिन्न होती है।

6. सामान्य इच्छा मानवीय कानूनों का अन्तिम स्रोत होती है।

सामान्य इच्छा के उपर्युक्त स्वरूप से रूसो कई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निष्कर्ष निकालता है,

जैसे-1. राजनीतिक संगठन या राज्य मनुष्य की भौति एक सावयव (Organism) या विराट् पुरुष होता है, इसलिए राज्य में सावयव या शरीर जैसी एकता (Organic Unity) होती है।

2. यह राजनीतिक संगठन (Body Politic) या विराट् पुरुष नैतिक प्राणी होता है, जिसकी अपनी इच्छा और अपना व्यक्तित्त्व होता है।

3. सामान्य इच्छा हमेशा समाज के सामूहिक कल्याण और प्रत्येक अंग के व्यक्तिगत कल्याण के लिए प्रयत्न करती है। यह समस्त कानूनों का स्रोत होती है।

4. सामान्य इच्छा राज्य के सभी सदस्यों के लिए न्याय और अन्याय का निर्धारण करती है। जो कार्य इसके अनुकूल होते हैं, वे न्यायपूर्ण और जो इसके प्रतिकूल होते हैं, वे अन्यायपूर्ण होते हैं।

5. जो सामान्य इच्छा जितनी अधिक सामान्य होगी, वह उतनी ही अधिक न्यायपूर्ण होगी।

6. सामान्य इच्छा सदैव सामान्य हित के लिए होती है, अतः इसका पालन करने के लिए व्यक्ति को बाध्य किया जाना चाहिए।

7. सामान्य इच्छा क्रान्ति को जन्म दे सकती है, क्योंकि यह व्यक्तियों को स्वतन्त्र रहने के लिए बाधित कर सकती है।

सामान्य इच्छा की प्रमुख विशेषताएँ (Salient Features of General Will)-रूसो द्वारा वर्णित सामान्य इच्छा की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं-

1. अप्रतिनिधियात्मकता (Unrepresentability)-सामान्य इच्छा की एक विशेषता यह है कि इसको जन प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ये लोग जनता की सामान्य इच्छा का नहीं, बल्कि राजनीतिक दलों की इच्छाओं का ही अनुसरण करते हैं।

इसीलिए रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थन करता है, जिसमें जनता स्वयं अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करती है। उसके मतानुसार किसी प्रतिनिधि के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति का अर्थ है-लोकतन्त्र को समाप्त कर देना।

2. अदेयता (अलग नहीं हो सकती) (Inalienability)-रूसो के मतानुसार सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निहित होती है और इसीलिए वह इसका प्राण होती है। जिस प्रकार शरीर से प्राण को पृथक् नहीं किया जा सकता है या इसे किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता है, उसी प्रकार सम्प्रभुता को सामान्य इच्छा से अलग नहीं किया जा सकता है।

3. अविभाज्यता (Indivibisility)- सामान्य इच्छा की अन्य विशेषता है-इसकी अखण्डता और अविभाज्यता। सामान्य इच्छा अखण्ड होती है अर्थात् इसके टुकड़े नहीं किए जा सकते हैं, क्योंकि यदि इसे विभक्त कर दिया गया, तो फिर यह सामान्य नहीं रह जाएगी। यह बुद्धिपूर्ण-चिन्तन और विचार-विमर्श का परिणाम होती है, अतः इसमें कोई विसंगति नहीं हो सकती है। यह एकत्यवादी होती है और राज्य को एकत्व प्रदान करती है।

4. स्थायित्व (Permanence)-सामान्य इच्छा स्थायी होती है अर्थात् यह क्षणिक भावावेश की उपज नहीं होती है, जो बार-बार बदलती रहे, बल्कि यह सोचे-समझे तर्क और बुद्धि का परिणाम होती है। यह राज्य और उसकी संस्थाओं को स्थायित्व प्रदान करती है।

5. न्यायोचितता (Justness) सामान्य इच्छा कभी गलत नहीं हो सकती है, क्योंकि यह सदैव ही न्यायोचित होती है। सामान्य भलाई पर आधारित होने के कारण यह न्यायपूर्ण होती है। क्योंकि यह नैतिक दृष्टि से उचित होती है, अतः इसके असत्य और अन्यायपूर्ण होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

6. सर्वोच्चता (Supremacy)- सामान्य इच्छा सर्वोच्च एवं निरपेक्ष होती है, क्योंकि इस पर दैवीय नियमों या प्राकृतिक नियमों का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है। यह किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की शक्तियों से नियन्त्रित नहीं होती है। जब तक राज्य होता है, जनहित की प्रतीक सामान्य इच्छा इसमें सर्वोच्च शासक होती है। इसका पालन सभी को करना होता है, अर्थात् इसके आदेशों की अवहेलना कोई भी नहीं कर सकता है।

7. राज्य का आधार (Basis of State)- सामान्य इच्छा राज्य का आधार होती है और कोई भी राज्य तब तक कायम रहता है, जब तक वह सामान्य इच्छा पर आधारित होता है। इसीलिए राज्य शक्ति से नहीं, बल्कि जनता की सहमति से संचालित होता है।

आलोचना (Criticism)- यद्यपि सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को रूसो का मौलिक सिद्धान्त माना जाता है और इसी के कारण राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसने अपनी एक जगह बनायी है। तब भी उसके इत सिद्धान्त में कई दोष विद्यमान् हैं, जिनका उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है-

1. रूसो यह स्पष्ट नहीं करता है कि सामान्य इच्छा का निर्धारण किस तरह किया जाए, क्योंकि जब व्यक्तिगत और सार्वजनिक हितों में टकराव होता है, तो व्यक्ति प्रायः व्यक्तिगत हित का ही अनुसरण करता है; सार्वजनिक हित का नहीं। ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत ही कम होती है, जो व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सार्वजनिक हित को प्राथमिकता देते हैं। वह स्वयं भी यह स्वीकार करता है कि बहुसंख्यक जनता सामान्य इच्छा का निर्धारण करने में असमर्थ होती है। इसके निर्धारण में कई कठिनाइयाँ आती हैं। प्रथम कठिनाई यह है कि सामान्य हित की कोई कसौटी नहीं होती है, जिसके आधार पर व्यक्तिगत हित और सामान्य हित में भेद किया जा सके और द्वितीय कठिनाई है-व्यक्ति की इच्छा को दो भागों में विभक्त करना, क्योंकि व्यक्ति की इच्छा ऐसी जटिल सम्पूर्ण और अविभाज्य समष्टि (Whole) है, जिसका विभाजन नहीं किया जा सकता है।

2. रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी है, क्योंकि उसका विचार है कि सामान्य इच्छा की आज्ञा न मानने वाले व्यक्ति को इसकी आज्ञा-पालन के लिए विवश किया जाना चाहिए। अन्य शब्दों में, सार्वजनिक हित के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता को न्योछावर करना उसकी दृष्टि से बिल्कुल भी अनुचित नहीं है।

3. सामान्य इच्छा केवल छोटे राज्यों में ही अपनी अभिव्यक्ति पा सकती है, क्योंकि कम आबादी के कारण इसका आसानी से पता लग सकता है। आधुनिक विशाल राज्यों में अनेक प्रकार के स्वार्थों वाले व्यक्ति निवास करते हैं। ऐसी स्थिति में सामान्य हित का निर्धारण करना बहुत कठिन होता है। अन्यथा भी सामान्य हित का पता लगाना ऐसे राज्य में सम्भव हो सकता है, जहाँ सजातीय लोग निवास करते हों।

4. इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थन करता है। वह प्रतिनिधियात्मक लोकतन्त्र को सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति

की दृष्टि से दोषपूर्ण मानता है। उसकी राय में प्रतिनिधियात्मक लोकतन्त्र में जन-प्रतिनिधि जनता की इच्छा को नहीं, बल्कि दलगत इच्छाओं को अभिव्यक्त करते हैं। आज के समय में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र लागू करना सम्भव नहीं है और अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र या प्रतिनिधियात्मक लोकतन्त्र के संचालन के लिए राजनीतिक दलों को अनिवार्य समझा जाता है।

5. रूसो सामान्य इच्छा को स्थायी मानता है, जब कि वस्तुस्थिति यह है कि सामान्य इच्छा राष्ट्र पर आए संकटों के समय ही अभिव्यक्ति पाती है, क्योंकि संकट के समय ही व्यक्ति व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर सामाजिक हित की सोचते हैं। ऐसे में सामान्य इच्छा का निर्धारण करना सम्भव ही नहीं हो पाता है।

6. रूसो का सामान्य इच्छा का यह सिद्धान्त तानाशाही एवं सर्वाधिकारवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है, क्योंकि वह राज्य की इच्छा और व्यक्तित्त्व को राज्य का निर्माण करने वाले व्यक्तियों की इच्छाओं और व्यक्तित्त्व से पृथक् मानते हुए राज्य को व्यक्तियों से कहीं अधिक श्रेष्ठ मानता है। वह राज्य को विराट् पुरुष मानता है, जिसके आदेशों की पालना सभी व्यक्तियों को करनी चाहिए और राज्य-हित के लिए अपने व्यक्तिगत हितों का त्याग करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

मूल्यांकन (Evaluation)-उपर्युक्त दोषों के होने के बाद भी रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में असाधारण महत्त्व रखता है। यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि राज्य का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष का हित नहीं, बल्कि जन-हित होना चाहिए, क्योंकि जन-हित व्यक्तिगत हित से अधिक श्रेष्ठ और उच्चकोटि का होता है। इसके साथ-साथ रूसो राज्य को सामान्य इच्छा पर आधारित होने के कारण एक नैतिक संगठन मानता है-एक ऐसा संगठन जो मनुष्य की स्वार्थी, असामाजिक और हीन प्रवृत्तियों का परिष्कार करके उसे सहज भावना से संचालित होने वाले पशु के स्तर से ऊँचा उठाकर, बुद्धि और विवेक से संचालित होने वाले इन्सान के स्तर पर पहुँचा देता है।

Q. "रूसो की सामाजिक संविदा हॉब्स का लेवियावन है. जिसका सिर कटा हुआ है।" टिप्पणी कीजिए। ("Rousseau's Social Contract is Hobbes's Leviathan with its head chopped off". Comment.)

अथवा

रूसो के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (Critically examine the theory of Social Contract of Rousseau.)

अथवा

"मानव स्वतन्त्र पैदा होता है, लेकिन हर तरफ जंजीरों से जकड़ा हुआ है।"-रूसो। टिप्पणी कीजिए। ('Man is born free but everywhere he is in chain.' (Rousseau). Comment.)

उत्तर-रूसो राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या करने वाले सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादकों में से एक है। उसने इस सिद्धान्त की व्याख्या अपनी पुस्तक 'सामाजिक समझीता' (Social Contract) में की है। यह हॉब्स और लॉक की तरह यह नहीं मानता है कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई है और राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। वह यह मानता है कि राज्य की उत्पत्ति एक सामाजिक समझौते के द्वारा हुई है और इसलिए राज्य एक प्राकृतिक संस्था न होकर मानव द्वारा निर्मित्त संस्था है। लेकिन यह समझौता क्यों हुआ? किसने किया? इसका स्वरूप कैसा था और इसके फलस्वरूप जो राज्य अस्तित्त्व में आया, उसका स्वरूप कैसा है? इन विषयों पर उसके विचार हॉब्स और लॉक से अलग हैं।

रूसो अपनी पुस्तक 'सामाजिक समझौता' (Social Contract) का प्रारम्भ इस घोषणा से करता है, "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है, किन्तु सर्वत्र बन्धनों में जकड़ा हुआ है।" इसका अर्थ है कि मनुष्य को स्वतन्त्र और स्वाधीन होना चाहिए जिसके साथ उसका पृथ्वी पर जन्म होता है। यही मनुष्य के लिए सर्वोत्तम अवस्था है, किन्तु सभ्य समाज के नियम, रूढ़ियों तथा बन्धन उसे गुलाम बना देते हैं जिसके परिणामस्वरूव वह प्राकृतिक अवस्था के स्वतन्त्रता के अपने नैसर्गिक अधिकार से वंचित हो जाता है। अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिए वह इन बन्धनों से किस प्रकार मुक्त हो, यही उसके चिन्तन की मौलिक समस्या है। इस समस्या का समाधान वह एक ऐसा संगठन बनाकर करना चाहता है, जिसमें प्राकृतिक अवस्था जैसी स्वतन्त्रता का मनुष्य उपभोग कर सके और यह कार्य सामाजिक समझौते के द्वारा राज्य का निर्माण करके सम्भव हो सकता है।

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है-

1. मानद स्वभाव (Human Nature)-हॉब्स और लॉक की तरह रूसो के सामाजिक सिद्धान्त का प्रारम्भ मानव स्वभाव के विश्लेषण से होता है। मानव स्वभाव के विषय में वह हॉब्स और लॉक के विचारों से सहमत नहीं है। हॉब्स मनुष्य को न केवल हिंसक और क्रूर बताता है, बल्कि स्वार्थी और कपटी भी बताता है। रूसो का कहना है कि हॉब्स ने मानव स्वभाव का दोषपूर्ण चित्रण किया है। लॉक मनुष्य को प्राकृतिक नियमों से अनुशासित होने वाला नैतिकता, सहानुभूति, परोपकार, दयालुता एवं प्रेम आदि गुणों से युक्त प्राणी मानता है, किन्तु रूसो आदिम युग में नैतिकता के ऐसे उच्च विकास को भी असम्भव मानता है। मानव स्वभाव के विषय में इन दोनों के विचारों को भ्रान्तिपूर्ण मानते हुए वह आदिम मानव को लगभग पशुतुल्य, निष्पाप, निर्दोष और स्वाभाविक रूप से अच्छा मानता है। यह मानव सहज भावना से काम करने वाला, बुद्धिमान, नैतिकता से अनभिज्ञ और सम्पत्ति शून्य है। रूसो का आदिम मानव आत्म-संरक्षण और सहानुभूति दोनों भावनाओं से ओत-प्रोत है।

2. प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)-रूसो की मानव स्वभाव की व्याख्या हॉब्स और लॉक की व्याख्याओं से भिन्न है, इसलिए राज्य से पूर्व की प्राकृतिक अवस्था की उसकी धारणा भी इनकी धारणाओं से भिन्न है। प्राकृतिक अवस्था-सम्बन्धी रूसो के विचार 1754 में उसके द्वारा लिखे, असमानता की उत्पत्ति और स्थापना पर भाषण' (Discourses on the Origin and Foundation of Inequality) लेख में देखने को मिलते हैं। वह कहता है कि प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मानव पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न था। इस अवस्था में वह आदिवासियों जैसा जीवन व्यतीत करता था। वह फल-फूल खाता था और उसे कपड़ों की आवश्यकता नहीं होती थी। रूसो के मतानुसार आदिम मनुष्य एकांकी, स्वतन्त्र, निःस्वार्थी, नैतिक-अनैतिकता की भावनाओं से सर्वथा मुक्त और सम्पत्ति व परिवार से दूर स्वर्णिम प्राकृतिक अवस्था में रहता था। उसमें तेरे-मेरे और अपने-पराए की कोई भावना न थी। इस अवस्था में वह सुखी और सन्तुष्ट या और उसका जीवन 'उदात्त वनेचर' (Noble Savage) जैसा था।

3. सामाजिक समझौते का कारण (Causes for Social Contract)-रूसो के मतानुसार यह स्वर्णिम प्राकृतिक अवस्था अधिक समय तक कायम न रह सकी, क्योंकि सम्पत्ति रूपी नाग ने इसको डस लिया। इसमें मनुष्य में वैयक्तिक सम्पत्ति प्राप्त करने की भावना पैदा हो गई। एक व्यक्ति ने भूमि के टुकड़े को घेरकर उत्स पर अपना कब्जा कर लिया और यह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति बन गई। उसने दूसरे मनुष्यों से भी अपनी इस व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता दिलायी। इसके बाद अन्य मनुष्यों ने भी उसका अनुसरण करते हुए भूमि के अन्य टुकड़ों पर अपना व्यक्तिगत स्वामित्व कायम किया। इस तरह देखते-देखते सम्पूर्ण भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व कायम हो गया। रूसो के मतानुसार इससे प्राकृतिक अवस्था की शान्ति भंग हो गई, क्योंकि इसके कारण दास-प्रथा तथा अन्य बुराइयों पैदा हो गई। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अस्तित्व के साथ ही परिवार और सरकार की संस्थाएँ भी अस्तित्त्व में आ गई। ये सब समाज में आर्थिक विषमता को स्थायी बनाने में तथा निर्धन दासों पर धनिक स्वामियों के अत्याचार बढ़ाने में सहायक हुई। इस तरह सभ्य समाज के जन्म से निर्धनता और उससे जुड़े दुखों का प्रारम्भ हुआ। जैसे-जैसें सभ्यता का विकास होने लगा, वैसे-वैसे दरिद्रता, शोषण और मार-काट बढ़ती चली गई।

4. सामाजिक समझौते का स्वरूप (Nature of Social Contract) - रूसो व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य की सत्ता में समन्वय स्थापित करने के लिए एक सामाजिक समझौते की कल्पना करता है। वह हॉब्स की तरह समझौते के लिए व्यक्ति के समस्त अधिकारों के परित्याग को आवश्यक मानता है, न कि लॉक की तरह व्यक्ति के एक अधिकार के परित्याग को। लेकिन हॉब्स की तरह वह व्यक्ति द्वारा अपने समस्त अधिकारों को, 'लेवियाथन' को सौंपने की बात नहीं करता है, बल्कि लॉक की तरह वह समझौते के अन्तर्गत व्यक्ति के समस्त अधिकारों को एक ऐसे संघ को सौंपने की बात करता है, जिसके सदस्य सभी व्यक्ति होते हैं। यह समझौता सभी व्यक्तियों की सहमति पर आधारित है रूसो के मतानुसार समझौते के द्वारा राज्य का निर्माण करने के इच्छुक व्यक्ति इकट्ठा होकर यह घोषणा करते हैं, "हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्त्व को और तमूची शक्ति को अन्य सभी के साथ संयुक्त सामान्य इच्छा के सर्वोच्च संचालन में रखता है और हम अपने सामूहिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति को समष्टि के अविभाज्य अंग के रूप में ग्रहण करते हैं।")

रूसो के अनुसार इस समझौते में विभिन्न व्यक्ति अपने व्यक्तित्त्वों को पूर्ण रूप से समाज में विलीन करके एक ऐसी संस्था का निर्माण करते हैं, जिसका गठन इसके सभी सदस्यों द्वारा होता है। यद्यपि इस संस्था का निर्माण इसके सदस्य सभी व्यक्तियों द्वारा होता है, लेकिन इसकी अपनी विशिष्ट इच्छा, शक्ति और व्यक्तित्त्व होता है, जो इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों की इच्छा, शक्ति और व्यक्तित्त्व से भिन्न होता है। इसके सदस्य निष्क्रिय होने पर राज्य, सक्रिय होने पर सम्प्रभु तथा अन्य संस्थाओं की तुलना में शक्ति (Power) कहलाते हैं। इस संस्था का निर्माण करने वाले व्यक्तियों को सामूहिक रूप जनता और व्यक्तिगत रूप से नागरिक कहा जाता है। रूसो के अनुसार इस व्यवस्था में व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ने अपने समस्त अधिकार किसी व्यक्ति विशेष को नहीं, बल्कि उस समाज को समर्पित किए हैं, जिसका कि वह स्वयं एक सदस्य है। इसलिए इस समझौते के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को समाज का एक अंग (सदस्य) होने के नाते, ये अधिकार वापस प्राप्त हो जाते हैं। यह समझौता इसलिए किया गया है, जिससे कि विभिन्न व्यक्तियों की परस्पर विरोधी शक्तियों के स्थान पर एक सामान्य शक्ति कायम हो जाए। रूसो के समझाते द्वारा राजनीतिक समाज या राज्य का निर्माण होता है, किन्तु

यह इस समझौते को करने वाला पक्ष नहीं है।

विशेषताएँ (Features): रूसो द्वारा वर्णित सामाजिक समझौते की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

1. मनुष्य की स्वतन्त्रता को बनाए रखना (Liberty of Individual maintained) : रूसो के सामाजिक समझीते की सबसे पहली विशेषता यह है कि उसने अपने सामाजिक समझौते के गाध्यम से व्यक्ति की स्वतंत्रता को समाप्त नहीं किया है।

2. समानता पर आधारित (Based on equality): समझौते से एक बात स्पष्ट होती है कि इसमें किसी को असमान नहीं रखा गया है और इसमें सभी को समान रूप से लाभ देने की बात कही गई है।

3. स्वयं पर नियन्त्रण (Control on self): रूसो ने सामाजिक समझौते में निरंकुश स्वतंत्रता को समाप्त करके नागरिक स्वतंत्रता की स्थापना पर बल दिया है। यह एक प्रकार की नैतिक स्वतंत्रता है जिसमें व्यक्ति को सामान्य इच्छा के अनुसार व्यवहार करने का निर्देश दिया गया है। इसमें व्यक्ति से कानूनों और नियमों को पालन करने की अपेक्षा की गई है और स्वयं पर अंकुश लगाना उसका कार्य है।

4. आंगिक प्रकृति (Organic nature): रूसो ने व्यक्ति और राज्य को एक माना है। उसने लॉक और हॉब्स के समान राज्य और व्यक्ति को अलग-अलग नहीं माना है। इस प्रकार से उसने राज्य की आगिक प्रकृति का वर्णन किया है। उसने व्यक्ति की इच्छा को सामान्य इच्छा के प्रति समर्पित कराके रामुदायिक भावना को जन्म दिया है। इस प्रकार से राज्य जो कि सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है उसमें व्यक्ति की इच्छा भी शामिल है।

5. अधिकार राज्य में संभव (Rights are possible in state): रूसो ने प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा को न मानते हुए माना है कि अधिकार राज्य से ही आते हैं। उसका कहना है कि समझौते की स्थापना का उद्देश्य समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की स्थापना करना है।

6. निरन्तर प्रक्रिया (Continuous process): रूसो का कहना है कि यह समझौता एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। यह किसी निश्चित समय में नहीं हुआ। इसने स्थापित होने में अपना समय लिया है।

7. एकता पर आधारित (Based on unity): रूसो ने अपने सामाजिक समझौते में सम्पूर्ण एकता का परिचय दिया है। उसका कहना है कि इस समझौते में प्रत्येक व्यक्ति शामिल था।

8. सामान्य इच्छा पर आधारित (Based on general will): रूसो ने राज्य की अपेक्षा समाज की सर्वोच्चता पर बल दिया है। उसका कहना है कि सभी सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में है और सामान्य इच्छा पर समाज का नियन्त्रण है व्यक्ति या राज्य का नहीं। सामान्य इच्छा न केवल न्यायिक है अपितु यह सामान्य भलाई के लिए है।

9. प्रभुसत्ता सामान्य इच्छा का क्रियात्मक स्वरूप (Executive of general will is sovereignty) : रूसो ने समाज की सामान्य इच्छा को सर्वोच्च माना है। लेकिन साथ-साथ उसका कहना है कि जो इस सामान्य इच्छा को लागू करने का कार्य करता है वह निरंकुश है। रूसो ने सम्प्रभु को सामान्य इच्छा के लिए कानून को लागू करने के लिए बल प्रयोग का अधिकार प्रदान करके उसे निरंकुश माना है।

10. शान्ति स्थापना का उद्देश्य (Objective to achieve peace): रूसो का कहना है कि व्यक्तियों ने सामाजिक समझौता किया क्योंकि प्राकृतिक अवस्था की शान्ति नष्ट हो चुकी थी और प्रत्येक व्यक्ति ने शान्ति की स्थापना के लिए यह सामाजिक समझौता किया जिससे वह अपने अधिकार सुरक्षित कर सके।

11. राज्य सामाजिक समझौते का परिणाम (State-a result of contract): रूसो ने लॉक के समान दो समझौतों का समर्थन नहीं किया है। उसका कहना है कि एक ही सामाजिक समझौते के द्वारा राज्य की उत्पत्ति हुई।

5. राज्य का स्वरूप (Nature of State)- रूसो का सामाजिक समझौता जिस प्रकार के राज्य को जन्म देता है, यह लोकतान्त्रिक राज्य ही है, क्योंकि उसके निर्णय उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों के निर्णय होते हैं, लेकिन वह अपने निर्णय मानने के लिए अपने सदस्यों को बाध्य कर सकता है। सामाजिक समझौते को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि जो व्यक्ति सामान्य इच्छा के निर्णय मानने से मना कर दे, उसे समाज द्वारा, जिसका कि वह स्वयं एक सदस्य है, इनको मानने के लिए विवश किया जाए, क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करेगा और स्वच्छन्द रूप से आचरण करेगा, तो यह समझौता भंग हो जाएगा और इससे पहले की अवांछनीय प्राकृतिक अवस्था कायम हो जाएगी और व्यक्ति की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी। अतः व्यक्ति को स्वतन्त्र रखने के लिए उसे समाज के निर्णय मानने के लिए बाधित किया

जाना चाहिए। सरल शब्दों में, इसका निहितार्थ यह हुआ कि व्यक्ति को समाज के आदेशों का पालन करना चाहिए और यदि वह ऐसा नहीं करता, तो इसके लिए उसे विवश किया जाना चाहिए, क्योंकि यदि वह समाज के आदेशों का पालन न करके स्वच्छन्द आचरण करेगा, तो हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था फिर से लौट आएगी, जिसमें व्यक्ति का जीवन और स्वतन्त्रता खतरे में पड़े हुए थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि रूसो के सामाजिक समझौते से उत्पन्न होने वाला राज्य लोकतान्त्रिक राज्य है, लेकिन जब वह अपने निर्णय मानने के लिए व्यक्ति को बाध्य करता है, तो वह निरंकुश राज्य बन जाता है।

रूसो सामाजिक समझौते के माध्यम से एक ऐसी संस्था का निर्माण करता है, जिसका इसके निर्माण करने वाले व्यक्तियों की इच्छाओं और व्यक्तित्त्वों से अलग, अपनी इच्छा और व्यक्तित्त्व है। इस संस्था के निर्माण के साथ प्राकृतिक अवस्था का अन्त हो जाता है और एक सर्वथा नए समाज और राज्य का निर्माण हो जाता है। इससे व्यक्ति नागरिक का रूप धारणा कर लेता है और उसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता, जिसका वह परित्याग करता है, नागरिक स्वतन्त्रता के रूप में उसे वापस मिल जाती है। रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता किसी विशेष समय में होने वाली कोई घटना नहीं है, बल्कि एक निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। इस समझौते से मनुष्य के स्वभाव में बहुत अन्तर आ जाता है, क्योंकि उसके आचरण को नियन्त्रित करने वाली सहज भावना (Instinct) का स्थान न्याय ले लेता है। उसके मतानुसार अब व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था के अनेक लाभों से वंचित हो जाता है, किन्तु नागरिक समाज में उसे बदले में दूसरे अनेक लाभ प्राप्त हो जाते हैं।

रूसो का सामाजिक संविदा हॉब्स का सिर कटा लेवियायन है (Rousseau's Social Contract is Hobbes's Leviathan with its Head Chopped Off)-रूसो का सम्प्रभु हॉब्स के सम्प्रभु की तरह पूर्ण रूप से निरंकुश है। हॉब्स का सम्प्रभु, समझौते से ऊपर उठा हुआ है और इससे पूरी तरह स्वतन्त्र एक स्वेच्छाचारी शासक है। वह इस समझौते को करने वाला पक्ष न होने के कारण इसका पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। अतः यह समझौता इसको करने वाले व्यक्तियों पर ही लागू होता है। इस प्रकार, हॉब्स का लेवियायन एक ऐसा निरंकुश सम्प्रभु है, जिसका आदेश ही कानून है और जिसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण है। अतः उसको प्रजाजनों पर असीम अधिकार प्राप्त है। उसे ये अधिकार स्वयं व्यक्तियों ने प्राकृतिक दशा की अराजकता से छुटकारा पाने और जीवन की रक्षा करने के लिए प्रदान किए हैं। एक बार इनको लेवियाथन को समर्पित करने के बाद उनके पास कोई अधिकार नहीं रह जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उनका एकमात्र कार्य सम्प्रभु के आदेशों का पालन करना हो जाता है। भले ही उसके आदेश दैवीय कानूनों एवं प्राकृतिक कानूनों के विरुद्ध हों, लेकिन सम्प्रभु का आदेश होने के कारण वे सर्वथा न्यायपूर्ण एवं वैध हैं। अतः प्रजाजनों द्वारा उनका पालन किया ही जाना चाहिए। हॉब्स के सम्प्रभु के पास निरपेक्ष शक्तियाँ हैं। यहाँ तक कि वह प्रजाजनों की सम्पत्ति भी छीन सकता है, क्योंकि वही इसका सृष्टा और जनता को इसे प्रदान करने वाला है। यदि उसकी तलवार का भय न हो, तो किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति सुरक्षित नहीं रह सकती है।

हॉब्स की तरह जिस सामाजिक संविदा की बात रूसो करता है, उसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों का समर्पण एक ऐसे संघ को करते हैं, जो सभी व्यक्तियों का समूह होता है और सामान्य इच्छा के निर्देशन में कार्य करता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने व्यक्तित्त्वों को पूर्ण रूप से समाज में विलीन करके अपने अधिकार एक ऐसी नैतिक और सामूहिक संस्था को सौंपते हैं, जो इन सभी से मिलकर बनती है। रूसो का समझौतो राज्य का निर्माण करता है, किन्तु वह इसे करने वाला पक्ष नहीं है। यद्यपि रूसो के अनुसार संविदा को प्रभावी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जो भी व्यक्ति सामान्य इच्छा के आदेश का पालन करने से इंकार करता है, उसे समाज द्वारा इसका पालन करने के लिए विवश किया जाना चाहिए, क्योंकि यदि व्यक्ति इसका पालन नहीं करेंगे, तो समझौता भंग होकर पहले की सी अवांछनीय स्थिति पैदा हो जाएगी, जिससे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी। रूसी का राजनीतिक संगठन (Body Politic) एक ऐसा सावयव (Organism) है, जिसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा ही होता है, किन्तु इसका व्यक्तित्त्व और इच्छा इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्त्व एवं इच्छाओं से पृथक् है। यह विराट्-पुरुष एक नैतिक प्राणी है, क्योंकि यह न्याय और अन्याय का निर्धारण करता है। अतः जो कार्य इसकी इच्छा के अनुकूल है, वह न्यायकारी और जो इसकी इच्छा के प्रतिकूल है, वह अन्यायकारी है। यही सभी विधियों का मूल स्रोत है।

इस प्रकार रूसो भी अपने शासक को हॉब्स की तरह पूर्ण रूप से सर्वोच्च एवं निरंकुश बना देता है, किन्तु उसके शासक की निरंकुश शक्ति का आधार व्यक्तियों द्वारा किया गया सामाजिक समझौता नहीं है, जैता कि हॉब्स को विश्वास है, बल्कि इसका आधार जनता की सहमति है। इसका अभिप्रायः यह हुआ कि प्रत्येक नागरिक ने अपनी सहमति से इस बात को स्वीकार कर लिया है कि उसकी शक्ति एवं अधिकारों का प्रयोग ऐसे समूह या समाज द्वारा किया जाएगा, जिसका वह स्वयं एक अभिन्न अंग है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हॉब्स के सम्प्रभु की तरह रूसो का सम्प्रभु भी पूर्ण रूप से निरंकुश है; किन्तु इन दोनों में एक अन्तर है। हॉब्स का निरंकुश सम्प्रभु एक व्यक्ति (लेवियाचन) या व्यक्तियों का समूह है, जब कि रूसो का निरंकुश सम्प्रभु समाज या समूची जनता है। इस अन्तर को मूर्त रूप देने के लिए रूसो ने अपने ग्रन्थ 'सामाजिक समझीते' (Social Contract) के प्रथम संस्करण के मुख पृष्ठ पर सिर कटे

लेवियायन का चित्र छापा था। दूसरे शब्दों में, हॉब्स ने जो निरंकुश शक्ति एक शासक को प्रदान की है, रूसो उसे समस्त जनता या समाज को देता है। इस दृष्टि से हॉब्स के राज्य में निरंकुश सम्प्रभु की पहचान की जा सकती है, क्योंकि यह एक मूर्त व्यक्ति है, जब कि रूसो के राज्य में निरंकुश सम्प्रभु को पहचाना नहीं जा सकता है, क्योंकि उसका सम्प्रभु समस्त समाज या जनता है। इसी आधार पर यह कहा जाता है, "रूसो का सामाजिक समझौता हॉब्स का लेवियायन है, जिसका सिर कटा हुआ है।"

आलोचना (Criticism)-हॉब्स और लॉक की तरह रूसो के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की गई हैं। इसमें से कुछ प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. विरोधाभासी सिद्धान्त (Contradictory Theory)-रूसो के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का एक प्रमुख दोष यह है इसमें अनेक विसंगतियाँ और अन्तर्विरोध निहित हैं। वह अपने इस सिद्धान्त का प्रारम्भव्यक्ति के अधिकारों का समर्थन करने वाले व्यक्तिवाद से करता है और इसकी समाप्ति सर्वाधिकारवादी राज्य की स्थापना पर करता है। इस विषय में वॉहन (Vaughan) की राय है कि एक ओर तो रूसो शक्तिशाली राज्य का समर्थन करता है और दूसरी ओर वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थक है। वह अन्त तक इन दोनों परस्पर-विरोधी आदशों को नहीं छोड़ पाया है।

2. मानवीय स्वभाव की गलत व्याख्या (Wrong Interpretation of Human Nature)-रूसो मानव की प्रकृति की जो व्याख्या करता है, यह नितान्त अतिवादी है। उसके मतानुसार प्राकृतिक अवस्था में रहने वाला मानव शुरू में सहयोगी, दयालु, सीधा और शान्ति-प्रिय था। इस प्रकार वह मनुष्य की प्रकृति के केवल अच्छे पक्ष का ही वर्णन करता है और इसके बुरे पक्ष की पूर्ण उपेक्षा कर देता है। वस्तुतः मनुष्य में भली-बुरी ह उत्कृष्ट-निकृष्ट दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों होती हैं। वह न तो पूर्ण रूप से अच्छा होता है और न ही पूर्ण रूप से बुरा। वह कभी अच्छा बन सकता है, तो कभी बुरा भी।

3. प्राकृतिक अवस्था का गलत चित्रण (Wrong Description of State of Nature)-मानव त्वभाव की गलत व्याख्या की भाँति, रूसो प्राकृतिक अवस्था का भी गलत चित्रण करता है। वह इस अवस्था को एक स्वर्णिम युन मानता है और सामाजिक प्रगति का विरोध करते हुए कहता है कि जैसे-जैसे प्रगति हो रही है; वैसे-वैसे समाज का पतन होता जा रहा है। वस्तुतः मानव जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, पतन का नहीं। जैसे-जैसे समाज का विकास होता है, मानव प्रगति करता जाता है।

4. मानवीय स्वतन्त्रता के विरुद्ध (Against Human Liberty)-रूसो का सामाजिक समझौते का यह सिद्धान्त मानवीय स्वतन्त्रता का हनन करने वाला है। हालाँकि यह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली अपनी पुस्तक 'सामाजिक संविदा' (Social Cotract) का प्रारम्भ व्यक्ति को दासता के बन्धन से जकड़ने वाली बेड़ियों को हटाने की इच्छा से करता है, लेकिन वह शीघ्र ही मनुष्य को सामान्य इच्छा की उन बेड़ियों में जकड़ देता है, जिनसे मुक्ति पाना मनुष्य के लिए अत्यन्त कठिन है।

5. पक्षपात एवं पूर्वाग्रहों पर आधारित (Based on Prejudices and Biases)-रूसो के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में उसके पक्षपातों एवं पूर्वाग्रहों की स्पष्ट झलक मिलती है। रूसो स्वयं एक स्वछन्द प्रकृति का व्यक्ति रहा था, इसलिए वह राज्य से पूर्व की उस प्राकृतिक अवस्था को सर्वोत्कृष्ट बताता है, जिसमें कोई नियम-कानून न थे और जिसमें व्यक्ति स्वच्छन्द रूप से रहता था और अपनी सहज भावना के अनुसार आचरण करता था।

6. राज्य विकास का परिणाम (State is an Outcome of Evolution)- रूसो राज्य को सामाजिक समझौतों से उत्पन्न मानता है, जब कि राज्य को समझौते की उपज नहीं, बल्कि क्रमिक विकास की उपज माना जाता है। अन्य शब्दों में, यह माना जाता है कि राज्य का निर्माण किसी विशेष समय में नहीं हुआ है, बल्कि इसका क्रमिक विकास हुआ है, जिसमें धर्म, रक्त सम्बन्ध, शक्ति एवं राजनीतिक चेतना आदि जैसे कई तत्त्वों का योगदान रहा है।

7. मौलिकता का अभाव (Lack of Originality)-रूसो के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि इसमें मौलिकता का अभाव है। वह इस समझौते के प्रत्येक बिन्दु का प्रारम्भ लॉक के विचारों से करता है और इसका अन्त हॉब्स के विचारों पर कर देता है। वह भी हॉब्स और लॉक की तरह अपने सिद्धान्त को मानव प्रकृति के विश्लेषण से प्रारम्भ करते हुए, प्राकृतिक अवस्था के वर्णन और संविदा के स्वरूप से होता हुआ राज्य की उत्पत्ति पर इसका समापन कर देता है।

निष्कर्ष (Conclusion)-रूसो के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी यह सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसका महत्त्व इस बात में है कि इसके द्वारा राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त का खण्डन किया गया है और राज्य को एक मानव-निर्मित्त संस्था माना गया है। इसके अतिरिक्त, यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि राज्य का आधार मानव की सहमति होती है।

निःसंदेह मानव की सहमति के बिना कोई शासन वैध नहीं हो सकता है, क्योंकि शासन को वैधता मानव सहमति ही प्रदान करती है।

Unit-II

Q. बेन्थम के उपयोगितावाद सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। Discuss Bentham's theory of Utilitarianism.)

अथवा

बेन्थम के मुख्य राजनीतिक विचारों का विवेचन कीजिए । (Discuss the main political ideas of Bentham.)

अथवा

उपयोगितावाद के बेंथम के मुख्य सिद्धांत का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (Critically examine Bentham's theory of Utilitarianism.)

उत्तर-बेन्थम को उपयोगितावाद का संस्थापक माना जाता है। इसका कारण यह नहीं है कि उसने इसकी खोज की है, बल्कि यह कि उसने अपने पूर्ववर्ती चिंतकों से प्रेरणा लेकर इस विचारधारा को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया और इसे एक लोकप्रिय विचारधारा बनाया। यह विचारधारा उसके सम्पूर्ण राजनीतिक चिंतन का केन्द्र-बिन्दु है। बेन्थम के उपयोगितावाद की विवेचना निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से की जा सकती है-

1. उपयोगितावाद का आधार सुख (Pleasure the Basis of Utilitarianism) - बेन्थम के राजनीतिक दर्शन को उपयोगितावाद का नाम दिया जाता है। यह सुखवाद पर आधारित एक मनोवैज्ञानिक एवं सुधारवादी विचारधारा है। बेन्थम की धारणा है कि मनुष्य का व्यावहार सुख और दुख के विचार पर आधारित है। वह स्वभाव से ही सुख प्राप्त करना और दुख से मुक्ति पाना चाहता है। मनुष्य केवल उन्हीं कार्यों को करना चाहता है, जिनसे उसे सुख या आनन्द मिलता है और वह उन कार्यों को नहीं करना चाहता है या उनसे दूर रहता है, जो उसे दुख या कष्ट पहुँचाते हैं। इस प्रकार किसी कार्य या वस्तु की उपयोगिता का मापदण्ड उससे प्राप्त होने वाला सुख या दुख है अर्थात् उससे मनुष्य को मिलने आनन्द या कष्ट है। उपयोगिता से बेन्थम का अभिप्रायः यह है कि किसी कार्य या वस्तु की उपयोगिता केवल उसके आनन्ददायक होने से होती है। उसकी धारणा है कि किसी वस्तु की उत्तमता या उसके मूल्य (Value) की कसौटी यही है कि उससे आनन्द प्राप्त होता है या नहीं। यदि उससे आनन्द या सुख मिलता है, तो वह उत्तम है। बेन्थम के शब्दों में, "प्रकृति ने मनुष्य को दुख तथा सुख दो सम्प्रभु सत्ताओं के अधीन रखा है; वे ही हमें यह बताती हैं कि हमें क्या करना चाहिए और वे ही यह निर्धारित करती हैं कि हम क्या करेंगे।"

2. सुख और दुख में मात्रा का अन्तर है, गुण का नहीं (Difference between Pleasure and Pain is Quantitative and not Qualitative) - बेन्थम की धारणा है कि सुख और दुख में मात्रा का अन्तर होता है; गुण का नहीं। इसी आधार पर वह घोषित करता है, "यदि सुख की मात्रा बराबर हो, तो काव्य का पाठ उतना ही अच्छा है जितना कि पुशपिन (जुए) का खेल।" अर्थात् अगर इन दोनों से बराबर मात्रा में आनन्द मिलता है, तो काव्य पाठ जैसी अच्छी वस्तु पुशपिन के खेल जैसी बुरी वस्तु के समान हो सकती है। बेन्थम का यह निष्कर्ष भले ही सत्य न हो, लेकिन इसके बिना उसकी उपयोगितावाद की समूची अवधारणा ही निर्मूल हो सकती है। इसका निहितार्थ यह हुआ कि गरीब व्यक्ति की सहायता करने में किसी व्यक्ति को जितना सुख मिलता है, यदि उतना ही सुख गरीब के शोषण में किसी अन्य व्यक्ति को मिलता है, तो गरीब की सहायता करना और उसका शोषण करना दोनों कार्य समान रूप से अच्छे कहलाएँगे। इस आधार पर किसी कार्य की उपयोगिता का मापदण्ड उससे मिलने वाले सुख की मात्रा है। यदि उससे सुख अधिक मिलता है, तो वह वस्तु उपयोगी है और यदि उससे सुख नहीं मिलता या कम मिलता है, तो वह वस्तु उपयोगी नहीं मानी जाएगी।

3. सुख और दुख का वर्गीकरण (Classification of Pleasure and Pain)- बेन्थम ने विभिन्न प्रकार के सुखों और दुखों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार सुख और दुख दो प्रकार के होते हैं-सरल (Simple) एवं जटिल (Complex) या सामान्य। वह सरल सुखों के 14 प्रकार बताता है-

(i) इन्द्रिय सुख (Pleasure of Sense) (ii) सम्पत्ति सुख (Pleasure of Wealth)

(iii) कौशल सुख (Pleasure of Skill) (iv) मित्र सुख (Pleasure of Friend)

(v) शक्ति सुख (Pleasure of Power) (vi) पवित्रता सुख (Pleasure of Sanctity)

(vii) परोपकारिता सुख (Pleasure of Benevolence) (viii) निर्दयता सुख (Pleasure of Manevolence)

(ix) स्मरण सुख (Pleasure of Memorary) (x) कल्पना सुख (Pleasure of Utopia)

(xi) आशा सुख (Pleasure of Expectation) (xii) सामुदायिक सुख (Pleasure of Association)

(xiii) आराम सुख (Pleasure of Relief) (xiv) यश सुख (Pleasure of Name)

इसी तरह बेन्थम 12 किस्म के दुखों का वर्णन करता है-

(i) दरिद्रता दुख (Pain of Poverty). (ii) भावना दुख (Pain of Feeling)

(iii) शत्रु दुख (Pain of Foe). (iv) अव्यवस्थित दुख (Pain of Akwardness)

(v) अपयश दुख (Pain of Defame). (vi) परोपकारिता दुख (Pain of Benevolence)

(vii) निर्दयता दुख (Pain of Menevolence). (viii) स्मृति दुख (Pain of Memorary)

(ix) पवित्रता दुख (Pain of Sanctity). (x) आशा दुख (Pain of Expectation)

(xi) मित्र दुख (Pain of Friend). (xii) कल्पना दुख (Pain of Imagination)

जटिल सुख और दुख से बेन्थम का अभिप्राय सुख और दुख के मिश्रित रूप से है। ये मिश्रित सुख या दुख कई सुखों अथवा कई दुखों अथवा एक सुख या अधिक दुखों के मिश्रण का परिणाम होते हैं।

4. सुख और दुख की नाप-तौल (Measurements of Pieasure and Pain)- बेन्थम सुखों एवं दुखों का वर्गीकरण करने के पश्चात् सुखों और दुखों को नापने-तौलने के लिए एक सुखवादी मापक यंत्र (Felicific Calculus) सुझाता है। इसका प्रयोग करके हम सुख की मात्रा का पता लगा सकते हैं। इसके आधार पर हम किसी कार्य या वस्तु से मिलने वाले सुखं की मात्रा का योग लगा सकते हैं। सुख या दुख को नापने के लिए वह निम्नलिखित सात मापदण्ड निर्धारित करता है-

(i) प्रगाढ़ता (Intensity)- तीव्रता

(ii) अवधि (Duration)

(iii) निश्चितता (Certainty)

(iv) निकटता एवं दूरी (Propinquity and Remotness)

(v) जनन शक्ति (Fecundity)

(vi) शुद्धता (Purity)

(vii) सीमा (Extent) -विस्तार

इन मापदण्डों के आधार पर हम कह सकते हैं कि सुख या दुख जितना अधिक प्रगाढ़ होगा; जितनी अधिक अवधि तक रहेगा या जितना अधिक निश्चित होगा, उसकी मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। इसी प्रकार समीप का सुख या दुख दूर वाले सुख या दुख से अधिक होगा। जनन शक्ति से उसका तात्पर्य यह है कि उस सुख या दुख से अन्य किसी सुख या दुख की उत्पत्ति होती हो। शुद्धता से उसका अभिप्राय है कि किसी सुख में दुख की और दुख में सुख की मिलावट न हो। सीमा से उसका अभिप्राय है कि सुख या दुख का क्षेत्र व्यापक हो अर्थात् वह अधिक-से-अधिक लोगों को प्रभावित करने वाला हो। वेन्थम के मतानुसार इन सात मापदण्डों के आधार पर किसी सुख या दुख को नापा-तीला जा सकता है। बेन्थम का सुझाव है कि यदि किसी कार्य की उत्तमता या वांछनीयता का पता लगाना हो, तो उसके परिणामों से होने वाले सुख और दुख की नाप-तौल इन मापदण्डों के आधार पर करके यह देखा जा सकता है कि उससे सुख अधिक मात्रा में मिलता है

या दुख। यदि सुख की मात्रा दुख की मात्रा से अधिक है, तो वह कार्य वांछनीय है और यदि इसका उल्टा है, तो वह कार्य अवांछनीय है।

5. सुख और दुख के स्रोत (Sources of Pleasure and Pain)-वेन्थम ने सुख और दुख के चार प्रमुख स्रोत बताए हैं। इन्हें उसने शक्तियाँ (Sanctions) भी कहा है।

(i) प्राकृतिक स्रोत (Natural Sources)- प्राकृतिक स्रोत से बेन्थम का अभिप्राय है-मानव के जीवन में सुख या दुख देने वाली ऐसी घटनाओं का घटित होना, जिनके लिए प्रकृति जिम्मेदार होती है। इन घटनाओं के पीछे मनुष्य का हाथ नहीं, बल्कि अदृश्य और रहस्यमयी दैवीय शक्तियों का हाथ होता है। बाढ़, वर्षा, सूखा एवं तूफान आदि ऐसी प्राकृतिक घटनाएँ हैं, जिनके कारण मनुष्य को सुख या दुख की अनुभूति होती है।

(ii) राजनीतिक स्रोत (Political Sources)- राजनीतिक सत्ता (शासक) या उसके अधीन कार्य करने वाले अधिकारियों व कर्मचारियों के कार्यों से भी मनुष्य को सुख या दुख की अनुभूति होती है। जब विधायकों द्वारा बने कानून, शासकों (सरकार) का इनके क्रियान्वयन में आचरण और न्यायाधीशों द्वारा दिए गए निर्णयों से व्यक्ति को सुख-दुख का आभास होता है, तो इनके उद्गम राजनीतिक स्रोत कहलाते हैं।

(iii) नैतिक स्रोत (Moral Sources)- लोकमत के अनुकूल या प्रतिकूल किसी व्यवस्था के क्रियान्वयन से भी मनुष्य को सुख या दुख हो सकता है, क्योंकि लोकमत किसी समाज की नैतिकता को अभिव्यक्त करता है। अतः इस पर आधारित सुख या दुख का कारण नैतिक होता है।

(iv) धार्मिक स्रोत (Religious Sources) - उपर्युक्त तीनों स्रोतों का संबंध मनुष्य के लौकिक जीवन से है। इनका प्रभाव इसी जीवन में मनुष्य के सुख-दुख पर पड़ता है, लेकिन कई बार मनुष्य के सुख या दुख का कारण धार्मिक होता है अर्थात् किसी धर्म विशेष को मानने या न मानने और इसके विरुद्ध आचरण करने या न करने से भी व्यक्ति को सुख या दुख मिलता है। ऐसे सुख या दुख का संबंध मनुष्य के लौकिक जीवन के साथ-साथ पारलौकिक जीवन से भी होता है।

6. अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख (Greatest Happiness of the Greatest Number)-बेन्थम का कहना है कि व्यक्ति को कोई कार्य करना चाहिए या नहीं, इसका निर्धारण उपर्युक्त सात कसौटियों पर उससे उत्पन्न सुख या दुख की मात्रा के योग के आधार पर किया जा सकता है, लेकिन समाज या राज्य के कार्यों की कसौटी क्या होनी चाहिए? इसके लिए बेन्थम एक कसौटी निर्धारित करता है और वह कसौटी है-'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख'। उसकी धारणा है कि राज्य के कानूनों से व्यक्ति को सुख या दुख की अनुभूति होती है। अतः कानून-निर्माताओं को ऐसे कानूनों का निर्माण करना चाहिए, जिनसे अधिक-से-अधिक लोगों को अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त होता हो।

स्पष्ट है कि उपयोगितावाद का यह सिद्धान्त मनुष्य और उसके सुख को केन्द्र में रखकर तैयार किया गया है। यह सिद्धान्त बहुत समय तक इंग्लैण्ड और यूरोप में कायम रहा और उपयोगितावाद के इसी सिद्धान्त के कारण बेन्थम को ख्याति मिली।

आलोचना (Criticism)-बेन्थम के उपयोगितावाद को इंग्लैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशों में कुछ सफलता प्राप्त हुई, लेकिन मार्क्सवाद के उदय ने उसकी इस विचारधारा पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया। निःसंदेह बेन्थम का उपयोगितावाद भौतिकवादी संस्कृति को बढ़ावा देता है और मानव के अन्तःकरण की पूर्ण अवहेलना करता है। शायद इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए महात्मा गांधी ने बेन्थम को 'हृदयहीन व्यक्ति' की संज्ञा दी और टॉमस कार्लाइल ने इसे 'सूअरों का दर्शन' कहा। बेन्थम के उपयोगितावाद में निहित दोषों के आधार पर इसकी निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई हैं-

1. सभी मानवीय कार्य सुख की इच्छा से प्रेरित नहीं (All Human Actions are not Guided by the Desire of Pleasure)-बेन्थम के उपयोगितावाद की यह मान्यता ठीक नहीं है कि मनुष्य के सभी कार्य सुख की इच्छा से प्रेरित होते हैं, क्योंकि मनुष्य में यदि एक ओर भोग-विलास की प्रवृत्ति है, तो दूसरी ओर उसमें त्याग की प्रवृत्ति भी है। माता स्वयं भूखी रहकर भी अपने बच्चे को खाना खिलाती है। यदि मनुष्य के सभी कार्य सुख की इच्छा से प्रेरित होते, तो फिर जगत में कोई माता ऐसा न करती।

2. सुखों में गुणात्मक अन्तर (Qualitative Difference among Pleasures)- चेन्थम सुखों में केवल मात्रात्मक भेद मानता है, गुणात्मक भेद नहीं। लेकिन हमारा अनुभव बताता है कि सभी सुख एक जैसे नहीं होते हैं, क्योंकि इनमें गुणात्मक भेद होता है। यदि उसकी यह बात मान ली जाए कि काव्य-पाठ से मनुष्य को पुशपिन जितना ही सुख मिलता है, तो फिर हम काव्य-पाठ करना क्यों नहीं छोड़ते हैं? कहने का तात्पर्य यह है कि सुख की मात्रा समान होने पर भी काव्य-पाठ पुशपिन से श्रेष्ठ है, क्योंकि काव्य-पाठ से जिस सुख की प्राप्ति

होती है, वह पुशपिन से प्राप्त सुख से श्रेष्ठ है। सुखों में गुणात्मक अन्तर होता है, जिसकी बेन्थम पूर्ण उपेक्षा करता है।

3. सुखों की कठिन नाप-तौल (Difficult Measurement of Pleasures)- बेन्थम के उपयोगितावाद के तहत सुखों को नापना कठिन है, क्योंकि सुखों को नापने के लिए जो मापदण्ड उसने अपने 'सुखवादी मापक-यन्त्र' (Felicific Calculus) में निर्धारित किए हैं, वे व्यावहारिक नहीं हैं। वह तीव्रता, अवधि, निश्चितता आदि तत्त्वों के सापेक्ष महत्त्व को निर्धारित नहीं करता है। दूसरे शब्दों में, वह हमें यह नहीं बताता है कि हमें तीव्रता, अवधि या शुद्धता आदि तत्त्वों में कौन से तत्त्व को अधिक महत्त्व देना चाहिए-विशेषकर तब जब कि दो या दो से अधिक तत्त्वों की मात्रा समान हो। वैसे भी सुख कोई भौतिक वस्तु नहीं है, जिसको नापा-तोला जा सके।

4. नैतिकता की अवहेलना (Negligence of Morality)- बेन्थम द्वारा पोषित उपयोगितावाद में नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि उसकी यह धारणा है कि मनुष्य वही कार्य करता है, जिससे उसे सुख की प्राप्ति होती है और उसे करना भी वही कार्य चाहिए, जिससे कि उसे सुख की प्राप्ति होती हो। यदि यही स्थिति है, तब तो कोई कार्य बुरा हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने मनमाने ढंग से जो भी अच्छा-बुरा कार्य करेगा, उससे उसे सुख अवश्य ही मिलेगा। उसके उपयोगितावाद को इसी आधार पर कार्लाइल ने 'सूअरों के दर्शन' की संज्ञा दी है।

5. 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' का दोषपूर्ण सूत्र (Defective Formula of Greatest Happiness of Greatest Number) - बेन्थम के उपयोगितावाद का 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' का सूत्र भी दोषपूर्ण है। इसमें प्रथम दोष तो यह है कि यह मात्रात्मक है और इसीलिए यह केवल उन्हीं परिस्थितियों में लागू होता है, जहाँ जिन व्यक्तियों को सुख प्राप्त हो रहा है, वे एक ही प्रकार के हों। यदि पाँच डाकू एक व्यक्ति को लूट रहे हैं, तो इस सूत्र के अनुसार तो यही ठीक है कि वे उसे लूटें, क्योंकि ऐसा करने से पाँच व्यक्तियों को लाभ हो रहा है और एक को हानि। इसमें दूसरा दोष यह है कि सुखों का योग करना भी सम्भव नहीं है। यदि एक व्यक्ति को शोर मचाने से सुख मिलता है और दूसरे को शान्त रहने में, तो इनके सुखों को जोड़ने पर योग शून्य होगा, क्योंकि दोनों के सुख परस्पर-विरोधी हैं। इसमें तृतीय दोष यह है कि कभी-कभी इस सूत्र के दोनों भाग 'अधिकतम व्यक्ति' और 'अधिकतम सुख' भी अन्तर्विरोधी हो सकते हैं। यदि किसी कानून के पारित होने से 20 मिल मालिकों में प्रत्येक को 2000 रुपये का लाभ होता है, किन्तु इससे 2000 मजदूरों को 10 रुपये प्रति मजदूर के हिसाब से हानि होती है। ऐसी स्थिति में यदि अधिकतम सुख (लाभ) की मात्रा देखें, तो मिल मालिकों को होने वाला सुख (लाभ) अधिक है; अतः कानून का पारित होना उचित है और यदि अधिकतम व्यक्तियों को देखें तो, इसके पारित होने से 2000 मजदूरों को हानि पहुँचती है, अतः इसे पारित नहीं होना चाहिए।

6. सुख एक व्यक्तिनिष्ठ अवधारणा (Pleasure is a Subjective Concept)- बेन्थम के उपयोगितावाद का आधार सुखवाद (Hedonism) है। वह सामान्य सुखों की विवेचना करता है, लेकिन सुख सभी के लिए एक से नहीं होते हैं। एक व्यक्ति के लिए जो कार्य सुखकारी है; दूसरे के लिए वह कार्य दुखदायी हो सकता है। इतना ही नहीं सुखों की प्राथमिकता को लेकर भी भेद हो सकता है। ऐसी स्थिति में राज्य के लिए यह तय करना कठिन हो जाएगा कि किस कानून से अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख की प्राप्ति होगी और किस से नहीं।

7. भौतिकवाद को बढ़ावा (Increase in Materialism) - बेन्थम का उपयोगितावाद भौतिकवादी संस्कृति को बढ़ावा देता है। इस सिद्धान्त ने 'खाओ-पिओ और मौज करो' (Eat, Drink and Be Marry) की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। यह विचारधारा व्यक्ति को शोषण के लिए प्रेरित करती है। इसके फलस्वरूप न केवल मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को बढ़ावा मिला हैं, बल्कि प्रकृति के दोहन की प्रवृत्ति को भी बढ़ावा मिला है। यह विचारधारा मानवीय सुखों की वृद्धि की बात तो करती है, लेकिन यह उत्पादन के साधनों के उचित वितरण पर बल नहीं देती है।

8. बहुमत की तानाशाही का समर्थन (Support to Majority-Rule) - बेन्थम का उपयोगितावाद 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' पर बल देता है। यह अधिकतम व्यक्यिों को महत्त्व देता है, अल्पसंख्यकों को नहीं। वह यह स्पष्ट नहीं करता है कि किस तरह कोई सरकार अल्पख्यकों के हितों की पूर्ति कर सकती है। स्पष्ट है कि इससे तो अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यक लोगों की तानाशाही कायम हो जाएगी। यह सिद्धान्त केवल बहुसंख्यकों के हितों को ही महत्त्व देता है।

9. मौलिकता का अभाव (Lack of Originality)- बेन्थम के उपयोगितावाद की इस आधार पर भी आलोचना की गई है कि इसमें मौलिकता का सर्वथा अभाव है, क्योंकि उसने सुखवाद (Hedonism) हॉब्स से, उपयोगिता (Utility) डेविड ह्यूम से और 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' के सूत्र को प्रीस्यले से लिया है। इस प्रकार ये अवधारणाएँ उसकी मौलिक अवधारणाएँ नहीं हैं। उसने तो इन्हें केवल व्यवस्थित स्वरूप ही प्रदान किया है।

निष्कर्ष (Conclusion) - यद्यपि बेन्थम के उपयोगितावाद की अनेक आलोचनाएँ की जाती हैं, तब भी हम इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकते हैं कि उसी ने इस विचारधारा को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया, जिससे कि यह विचारधारा लगभग एक शताब्दी तक इंग्लैण्ड और यूरोप के अन्य देशों में प्रचलित रही। इसके साथ ही उसने उपयोगितावाद के सिद्धान्त के द्वारा राजनीतिक चिन्तन को दर्शन और कल्पना के क्षेत्र से बाहर निकाल कर यथार्थवादी स्वरूप प्रदान करने का सफल प्रयास भी किया है।

Q. बेन्थम के राजनीतिक विचार (Political Ideas of Bentham)

बेन्थम के राजनीतिक विचारों की विवेचना करो।

(Evaluate the various political ideas of Jermy Benthem.)

अथवा

एक राजनीतिक दार्शनिक के रूप में जर्मी बेन्थम के विचारों का मूल्यांकन करो। (Evaluate the ideas of Jermy Benthem as a political philosopher.)

अथवा

राज्य और शासन के क्षेत्र में बेन्थम के विचारों की व्याख्या करो। (Explain the ideas of Benthem in the field of state and government.)

उत्तर : बेन्थम को एक व्यवहारवादी विचारक माना जाता है। जिस प्रकार से बेन्थम ने ब्लेक स्टोन (Black stone) और राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है, उससे यही स्पष्ट होता है कि बेन्थम के राजनीतिक विचार यथार्थवाद की नींव पर आधारित थे। इस प्रकार से बेन्थम के विचारों को दर्शन अथवा कल्पना के दायरे में नहीं रखना चाहिए। बेपर का कहना है कि- "राजनीतिक सिद्धान्त के सन्दर्भ में बेन्थम का महत्वपूर्ण योगदान यह है कि वह प्रत्येक प्रश्न को स्त्रियों और पुरुषों के सन्दर्भ में देखता है जिनके जीवन को ये प्रभावित करते हैं और काल्पनिकता के सन्दर्भ में कदापि नहीं।"

इस प्रकार से स्पष्ट है कि राज्य और इसके प्रश्नों से जुड़े बेन्थम के राजनीतिक विचार यथार्थ पर आधारित थे। बेन्थम ने उन राजनीतिक मान्यताओं का खण्डन किया जिनके आधार लॉक, ब्लेक स्टोन और उनके समर्थन स्वतंत्रता का समर्थन कर रहे थे। बेन्थम के राजनीतिक विचारों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

1. प्राकृतिक अधिकारों को मान्यता नहीं (No recognition to natural rights) : बेन्थम ने अपने राजनीतिक विचारों में कुछ विचारों का खण्डन किया है, जो उससे पहले के विचारकों के द्वारा स्थापित की गई। इस सन्दर्भ में बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों के विचार की आलोचना की है। बेन्थम का तर्क था कि प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा न तो कानूनी है और न ही वैज्ञानिक है। ये अधिकार नागरिकों को सुख भी प्रदान नहीं कर सकते। बेन्थम ने इन प्राकृतिक अधिकारों को 'साधारण बकवास' (Simple nonsense) कहा है। बेन्थम के अनुसार अधिकार केवल वही हैं जो राज्य द्वारा प्रदान किए जाते हैं।

2. सामाजिक-समझौते के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the theory of social contract) : बेन्थम एक व्यवहारवादी और यथार्थवादी विचारक था। उसने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने समय में प्रचलित सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का खण्डन किया। बेन्थम ने बताया कि राज्य की उत्पत्ति का कारण उसकी उपयोगिता है। व्यक्ति में स्वभाविक रूप से आज्ञा पालन का भाव पाया जाता है। आज्ञा पालन से उसे सुविधा होती है। आज्ञा पालन की यह सुविधा यद्यपि कम है लेकिन यह उस अवज्ञा पालन की हानि से कम है। हमें इस प्रकार से आज्ञा मानने से कम हानि होती हैं और आज्ञा न मानने से अधिक हानि होती हैं। बेन्थम ने राज्य को कोई आदर्श, नैतिक अथवा दैवीय संस्था भी नहीं माना। बेन्थम ने ब्लेकस्टोन की इस बात के लिए कटु आलोचना की वर्तमान इंग्लैण्ड का कानून सबसे अच्छा है क्योंकि इसका आधार सामाजिक समझौता है।

3. सरकार सम्बन्धी विचार (Views regarding government): बेन्थम अपने समय की सरकार की प्रणाली के आलोचक थे। बेन्थम ने कुलीनतंत्र और राजतंत्र के प्रतीक लार्ड सदन और सम्राट की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह खड़ा किया। इसके स्थान पर उन्होंने गणतंत्रात्मक

व्यवस्था का समर्थन किया। उनका विचार था कि न तो सीमित और न ही निरकुंश राजतंत्रीय व्यवस्था अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान कर सकती है। यदि हम अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख को स्थापित करना चाहते हैं तो हमें एक ऐसी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहिए जिसमें शासक और शासितों के हित एक समान हो। बेन्थम ने एक अच्छी और उपयोगी सरकार के लिए तीन लक्षण बताए हैं-

(i) बुद्धिमता (Wisdom): बुद्धिमता के द्वारा समुदाय के वास्तविक हितों की पहचान की जाए।

(ii) मलाई (Godness): यह एक ऐसा लक्षण है जिसके द्वारा वास्तविक हितों का लगातार पीछा किया जाए।

(iii) शक्ति (Power): यह एक ऐसा लक्षण है जिसके द्वारा वास्तविक हितों को कार्यरूप प्रदान किया जाए।

बेन्थम का विचार था कि सरकार में ऐसे लोग होने चाहिएं जिनमें उपरोक्त तीनों लक्षण-बुद्धिमता, भलाई और शक्ति हो। बेन्थम ने माना है कि लोगों के प्रतिनिधियों में इतनी योग्यता शायद न हो कि वे इन लक्षणों से युक्त हों, फिर भी ये कुलीनतंत्र और राजतंत्र से अच्छे प्रमाणित होंगे क्योंकि कुलीनतंत्र और प्रजातंत्र में ये लक्षण होने के बावजूद भी ईमानदारी नहीं होती और वे राजसत्ता का प्रयोग व्यक्तिगत हितों और शोषण करने के लिए कर सकते हैं। बेन्थम का कहना है कि "जब तोकतन्त्रात्मक शासन होता है तभी शासक और शासितों के हित एक समान होते हैं क्योंकि तब अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख का परम् उद्देश्य होता में स्थापित परम्पराओं के अस्तित्व को भी मानने से इन्कार किया है। उसका कहना था कि राज्य का आधार परम्पराएं नहीं अपितु कानून है। लेकिन कानून का आधार क्या है? निश्चित रूप से कानून का आधार परम्पराएं हैं।

5. व्यावहारिक नहीं (Not Pragmatic): यद्यपि बेन्थम को एक व्यवहारवादी विचारक माना गया है लेकिन बेन्थम ने भी यथार्थवाद की अवहेलना करके ऐसे सुधारों को लागू करने पर बल दिया है जो तत्कालीन परिस्थितियों में सम्भव नहीं थे। उसका विचार था कि प्रजातंत्र वही है जहां शासक और शासित के हित एक समान हों। प्रजातंत्र का इतिहास इसका प्रमाण है कि यह एक आदर्श स्थिति है व्यावहारिक नहीं।

6. राज्य और सरकार में अन्तर नहीं (No difference between state and government) : बेन्थम ने अपने राजनीतिक विचारों में राज्य और सरकार की शब्दावली का प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर किया है। वह राज्य के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है और इसके आधार पर सरकार की आलोचना करता है।

7. व्यक्तिवाद को बढ़ावा (Support to individualism): बेन्थम ने अपने विचारों में सामुदायिक हितों की अपेक्षा व्यक्तिगत हितों को प्रमुखता दी है। इस प्रकार का विचार समाज की मूल विचारधारा के विरुद्ध है। यदि समुदाय के हितों के विरुद्ध व्यक्तिगत हितों को प्राथमिकता दी जाए तो इससे समाज में विखण्डन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

8. धर्म विरोधी विचार (Anti-religious views) बेन्थम ने चर्च और धर्म की आलोचना की है। इस प्रकार से बेन्थम ने इनके योगदान को अस्वीकार कर दिया है। धर्म ने व्यक्ति को एकता ही प्रदान नहीं कि अपितु उसे परोपकारिता की ओर भी प्रेरित किया है।

निष्कर्ष (Conclusion): बेन्थम को एक राजनीतिक विचारक के साथ-साथ एक व्यवहारवादी भी माना जाता है। उसके दर्शन के सिद्धान्त काल्पनिकता की हवा में नहीं अपितु यथार्थ की नींव पर आधारित हैं। वह अपने समय की समस्याओं को अच्छी प्रकार से जानता था। उसने इन समस्याओं के व्यवहारिक समाधान प्रस्तुत किए। उसे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्रजातंत्र, धर्म-निरपेक्षता, कानून का शासन आदि अवधारणाएं स्थापित करने के लिए जाना जाता है। बेन्थम के महान योगदान को स्वीकार करते हुए बेपर का कहना है कि "उपयोगिता का सिद्धान्त ऐसा है जो हमें बताता है कि हम अपने आचरण को फित प्रकार से नियमित करें।"

जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873 ई.) [John Stuart Mill (1806-1873 A.D.)]

Q. बेन्थम के उपयोगितावाद में जे. एस. मिल के द्वारा प्रस्तुत सुधारों की विवेचना कीजिए। (Discuss revisions introduced by J. S. Mill in Benthamite utilitasianism.)

अथवा

जे. एस. मिल ने किस प्रकार बेन्थम के उपयोगितावाद में संशोधन किए ? How J.S. Mill modified Betham's Utilitarianism.)

उत्तर- मिल ने 1861 में लिखी अपनी पुस्तक 'उपयोगितावाद' (Utilitarianism) में अपने उपयोगितावादी विचारों को अभिव्यक्त किया है। इस पुस्तक में उसने उपयोगितावाद में निहित दोषों को दूर करने के उद्देश्य से बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद के सिद्धान्त में व्यापक संशोधन किए हैं। क्योंकि मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद में अनेक संशोधन किए हैं, इसलिए उसके उपयोगितावाद को ठीक से समझने के लिए हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम पहले बेन्थम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त का अर्थ जान लें। बेन्थम के अनुसार उपयोगितावाद एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत किसी कार्य को उचित या अनुचित समझने का मापदण्ड उससे उत्पन्न सुख और दुख माना जाता है। यदि किसी कार्य के करने से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, तो वह उचित है और इसलिए करने योग्य है। इसके विपरीत, यदि किसी कार्य को करने से मनुष्य को दुःख मिलता है तो वह अनुचित और इसीलिए करने के योग्य नहीं है। बेन्थम के शब्दों में, "प्रकृति ने मानवता (मनुष्य) को दो सम्प्रभु सत्ताओं-दुख और सुख के अधीन रखा है; वे ही यह दशति हैं कि हमें क्या करना चाहिए और वे ही यह निर्धारित करती हैं कि हम क्या करेंगे।" स्पष्ट है कि व्यक्ति जो भी कार्य करता है, उसके द्वारा वह अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त करना चाहता है, जब कि व्यक्ति दुख से दूर भागना चाहता है। जब हम इस सिद्धान्त को राजनीतिक क्षेत्र में लागू करते हैं तो इसका अर्थ यह हो जाता है कि राज्य को वे ही कार्य करने चाहिए, जिनसे 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख' की प्राप्ति हो। इस प्रकार राज्य को व्यक्ति के रास्ते में आने वाली बाधाओं को दूर करके उसे अधिक-से-अधिक सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए और उसे ऐसे कार्य नहीं करने चाहिए जिनसे सुख की जगह व्यक्ति को दुख प्राप्त होता हो।

बेन्थम के उपयोगितावाद में संशोधन (Modifications in Bentham's Utilitarianism)-जे. एस. मिल को बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद के सिद्धांत में 'एक विचार, एक सिद्धांत, एक दर्शन तथा एक धर्म' मिला, जिसका प्रचार करना उसने अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बना लिया। मिल के समय में एक शक्तिशाली सुख-विरोधी (Anti-Hedonism) आन्दोलन चल रहा था, जिसका प्रमुख प्रवक्ता टॉमस कार्लाइल था। वह सुखवाद को मानव का पतन करने वाली विचारधारा मानता था। उसने इसे 'शूकर (सूअर) दर्शन' (Pig Philosophy) कहकर पुकारा था। मानव-बुद्धि को बेन्थम की इस धारणा से अवश्य ही एक आघात सा लगता या कि मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य अधिकाधिक सुख प्राप्त करना है और सुखों में श्रेष्ठ एवं हीन का कोई भेद नहीं होता है अर्थात् सुखों में केवल मात्रात्मक भेद होता है; गुणात्मक नहीं। सुखों के मध्य गुणात्मक भेद से इंकार करते हुए वेन्थम ने कहा था, "यदि सुख की मात्रा समान हो, तो पुशपिन (एक प्रकार का जुआ) का खेल उतना ही अच्छा होता है, जितना कि काव्य-पाठ करना।" ऐसी स्थिति में मिल ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उपयोगितावाद एक पतित सिद्धान्त नहीं है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए उसने अपना निबन्ध 'उपयोगितावाद' लिखा, जिसमें उपयोगितावाद को आलोचनाओं से बचाने के लिए इससे उसमें कुछ संशोधन कर डाले। यद्यपि ये संशोधन बेन्थम के सुखवादी दर्शन की मूल-मान्यताओं के एकदम विपरीत हैं, इसके बावजूद भी मिल के उपयोगितावाद को बेन्थमवाद या बेन्थम के उपयोगितावाद का संशोधित रूप माना जाता है। बदली हुई परिस्थितियों में मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद में जो संशोधन किए, उनकी विवेचना निम्नलिखित रूप से की जा सकती है।

1. सुखों में मात्रात्मक एवं, गुणात्मक अन्तर (Quantitative and Qualitative Differences Pleasures)-बेन्थम का अनुनायी होने के बाद भी मिल बेन्थम की इस धारणा को स्वीकार नहीं करता है कि सुखों के मध्य केवल मात्रात्मक अन्तर होता है; गुणात्मक अन्तर नहीं। वह इस बात को जोर देकर कहता है कि कुछ सुख दूसरे सुखों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और मूल्यवान होते हैं। उसके मतानुसार मानसिक सुख शारीरिक सुख की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं मूल्यवान होते हैं। इसीलिए जिन व्यक्तियों ने उच्च और निम्न या श्रेष्ठ और हीन दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव किया है, उनका विचार है कि सदैव उच्च सुख को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए, क्योंकि उन्होंने ही इनके मध्य के गुणात्मक अन्तर को ठीक से समझा है। 'अपनी 'उपयोगितावाद' पुस्तक में वह लिखता है, "उपयोगितावाद के सिद्धान्त में विश्वास रखते हुए हम यह भी मान सकते हैं कि कुछ प्रकार के सुख दूसरों की अपेक्षा अधिक वांछनीय और मूल्यवान होते हैं। जब हम समस्त अन्य वस्तुओं के मूल्यांकन में उनकी मात्रा और उनके गुण दोनों पर विचार करेंगे, तो सुखों का मूल्यांकन केवल मात्रा के आधार पर करना हास्यपूर्ण होगा।""

2. सुखों का नापना असम्भव है (Measurement of Pleasures is Impossible)-बेन्थम की धारणा है कि सुखों और दुःखों की नाप -तौल की जा सकती है। इसके लिए वह सात मापदण्ड सुझाता भी है और एक सुखमापक यन्त्र (Felicific Calculus) का उल्लेख भी करता है। इसके विपरीत, मिल की धारणा है कि सुखों की नाप-तौल नहीं की जा सकती है, क्योंकि सुखों के मध्य गुणात्मक अन्तर होता है। सुखों की नाप-तौल तब ही की जा सकती है, यदि उनके मध्य केवल मात्रात्मक अन्तर होता, जैसा कि बेन्थम मानता है। मिल के मतानुसार, सुख शारीरिक अनुभूति के साथ-साथ एक मानसिक अनुभूति भी है और इसलिए यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह किस कार्य से सुख का अनुभव करता है और किस से नहीं। ऐसी स्थिति में सुखों की नाप-तौल करना सर्वथा असम्भव है।

3. मनुष्य केवल स्वार्थी नहीं है (Man is not Selfish Alone)-मिल बेन्थम के मानव स्वभाव-सम्बन्धी विचारों से असहमत है। बेन्थम की मान्यता है कि मनुष्य एक ऐसा स्वार्थी प्राणी है, जो सुखों की व्यक्तिगत खोज के लिए निरन्तर प्रयासरत रहता है। इसके विपरीत, मिल कहता है कि मनुष्य केवल स्वार्थी प्राणी ही नहीं है और सदैव व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति के लिए ही कार्य नहीं करता है, बल्कि वह अनेक ऐसे परोपकारी कार्य भी करता है, जिनसे उसे व्यक्तिगत सुख नहीं मिलता है। मिल के मतानुसार, सच्चा और श्रेष्ठ सुख मनुष्य को परोपकार और आत्म-बलिदान के कार्यों से मिलता है। यदि व्यक्ति केवल स्वार्थी प्राणी हो होता, तो फिर कोई भी माता स्वयं भूखी रहकर अपने बच्चे को भोजन न कराती। इस प्रकार मिल मनुष्य को निःस्वार्थी प्राणी भी मानता है।

4. नैतिकता पर बल (Emphasis on Morality)-बेन्थम का 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' पर आधारित उपयोगितावाद एक राजनीतिक सिद्धान्त है। बेन्थम की दिलचस्पी इस बात में थी कि विधि-निर्माता तथा शासक विधि-निर्माण करने और नीतियाँ-निर्धारित करने के कार्य में इसका प्रयोग करें। इसे व्यक्तिगत आचार का सिद्धान्त बनाने में उसकी कोई रुचि न थी। लेकिन मिल उपयोगितावाद के मूल मन्त्र 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख' के स्थान पर नैतिकता को महत्त्व देता है। इसीलिए उसके हाथों में पहुँचकर स्थिति उलट गयी। अब उपयोगितावाद का सिद्धान्त विधि-निर्माताओं के लिए एक पथ-प्रदर्शक व्यक्तिगत नैतिकता का सिद्धान्त बन गया, क्योंकि इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को यह निर्णय करना है कि उसके लिए सुख की प्राप्ति के लिए कौन-सा कार्य उचित है और कौन-सा अनुचित। इस प्रकार उपयोगितावाद का राजनीतिक पहलू धूमिल होकर पृष्ठभूमि में चला गया है। अपनी पुस्तक 'उपयोगितावाद' के दूसरे अध्याय में वह लिखता है, "...जैसा आचरण आप दूसरों से अपने साथ कराना चाहते हैं, वैसा ही आचरण दूसरों के साथ करना और अपने पड़ोसियों से वैसा ही प्रेम करना जैसा कि स्वयं अपने आप से उपयोगितावादी नैतिकता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है।"

5. स्वतन्त्रता पर बल (Emphasis on Liberty)-बेन्थम ने अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त में भौतिक सुखों को प्राथमिकता दी है और स्वतन्त्रता को नगण्य बना दिया है। वह स्वतन्त्रता की धारणा को सुखवादी नहीं मानता है। वह कहता है, "सुख ही (व्यक्ति का) अन्तिम लक्ष्य है और स्वतन्त्रता को इसी सन्दर्भ में जॉचना चाहिए। राज्य का उद्देश्य अधिकतम सुख है न कि अधिकतम स्वतन्त्रता।" किन्तु मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता को उसके सुखों के लिए एक अनिवार्य शर्त मानता है, क्योंकि स्वतन्त्रता से वंचित व्यक्ति सुख प्राप्त नहीं कर सकता है। मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए कहता है कि राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर तब तक अंकुश नहीं लगाना चाहिए, जब तक कि यह दूसरों की स्वतन्त्रता का हनन न करे।

6. मनुष्य की गरिमा पर बल (Emphasis on the Dignity of Man)-मिल अपने उपयोगितावाद में मनुष्य की गरिमा पर बल देता है। वह व्यक्ति को ऐसा प्राणी नहीं मानता है, जो सदैव भौतिक सुखों के पीछे दौड़ता रहता है। उसका विचार है कि व्यक्ति को भौतिक सुखों के पीछे दौड़ने के बजाए अपनी गरिमा को बनाए रखना चाहिए। वह व्यक्ति की भौतिक सन्तुष्टि की अपेक्षा मानसिक सन्तुष्टि पर बल देता है। इसीलिए वह कहता है कि एक सन्तुष्ट सूअर की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मानव होना अधिक अच्छा है। मिल का यह कथन इस बात को दर्शाता है कि वह भौतिक सुखों की अपेक्षा मानसिक सुखों को प्राथमिकता देता है और इस आधार पर व्यक्ति की गरिमा को स्थापित करता है।

7. सार्वभौमिकता की जगह इतिहास पर बल (Emphasis on History in Place of Universalism)-बेन्थम उपयोगितावाद को एक सार्वभौमिक सिद्धान्त मानता है अर्थात् उसका सिद्धान्त सर्वत्र और सभी कालों में समान रूप से लागू होने वाला सिद्धान्त है, क्योंकि उसकी धारणा है कि व्यक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता है और सभी व्यक्ति सुखों के पीछे दौड़ते हैं। मिल इससे इंकार करते हुए कहता है कि व्यक्ति और समाज में तथा उसके सुख तथा आवश्यकताओं में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसीलिए सुखों को प्राप्त करने का कोई ऐसा सिद्धान्त विकसित नहीं किया जा सकता है, जो सर्वत्र और सभी कालों में लागू हो सके।

8. लोकतन्त्र की पृथक् अवधारणा (Different Concept of Democracy)-बेन्थम और मिल की लोकतन्त्र-सम्बन्धी अवधारणाओं में भी व्यापक अन्तर है। बेन्थम ने सामान्य सुख को लोकतन्त्र का आधार माना है। बेन्थम की धारणा है कि न तो सीमित राजतन्त्र और न ही निरंकुश राजतन्त्र व्यवस्थाएँ अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्रदान कर सकती हैं। यह कार्य केवल लोकतान्त्रिक सरकार ही कर सकती है। अतः यदि हम अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख चाहते हैं, तो हमें एक ऐसी लोकतान्त्रिक सरकार स्थापित करनी चाहिए, जिसमें शासक और शासितों के हित समान हों। इस प्रकार बेन्थम के लिए लोकतन्त्र एक ऐसी शासन-व्यवस्था है, जिसमें शासक वर्ग सेवा-भावना के लिए भाग नहीं लेता है, बल्कि इसलिए भाग लेता है कि इसके माध्यम से उसे सुखों की प्राप्ति होती रहती है। मिल लोकतन्त्र का समर्थन करता है। उसके लिए लोकतन्त्र एक ऐसी शासन-व्यवस्था है, जिसमें चरित्रवान और निष्ठावान शासकों की आवश्यकता होती है।

9. राज्य-सम्बन्धी विचार (Views regarding State)-बेन्थम के लिए राज्य एक ऐसी संस्था है, जिसका लक्ष्य है-'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख'। लेकिन मिल ने 'एक बार पुनः राज्य को नैतिक उद्देश्य से युक्त एक नैतिक संस्था बनाने का कार्य किया है।' उसकी यह

अवधारणा यूनानी विचारक प्लेटो और अरस्तू से मिलती-जुलती है। मिल भी यह मानता प्रतीत होता है कि राज्य का उद्देश्य अधिकतम सुख की अभिवृद्धि करना नहीं, बल्कि मनुष्य में सद्गुणों का विकास करना है।

मूल्यांकन (Evaluation) — उपर्युक्त विवेचन से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त में इतने आमूल-चूल परिवर्तन कर डाले हैं कि बेन्थम का उपयोगितावाद ही नष्ट हो गया है। उसकी तुलना हम उस व्यक्ति से कर सकते हैं, जिसने बच्चों को नहलाने के बाद टब का पानी फेंकते समय बच्चे को ही फेंक डाला है। मिल ने बेन्थम के भौतिकवादी स्वरूप को नैतिक स्वरूप प्रदान करने का कार्य किया है। यद्यपि वह स्वयं को सदैव एक उपयोगितावादी चित्तक ही मानता रहा, लेकिन उसका उपयोगितावाद बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद से बहुत दूर चला गया है। उसके सिद्धान्त में राज्य का उद्देश्य उपयोगिता (अधिकतम सुख) की अभिवृद्धि करना नहीं, बल्कि व्यक्ति और सम्पूर्ण समाज की सामाजिक नैतिकता में वृद्धि करना है। इसी दृष्टि से उसको उपयोगितावादी विचारकों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। मिल की यह धारणा कि सुखों एवं दुःखों में गुणात्मक अन्तर भी होता है और कुछ सुख अन्य सुखों की तुलना में उच्चतर एवं श्रेष्ठ होते हैं, यह दर्शाती है कि सुखों की नाप-तौल सम्भव नहीं है। यदि उसकी यह बात मान ली जाए, तो अधिकतम सुख का उपयोगितावादी सिद्धान्त ही निर्मूल हो जाता है।

बेन्थम तथा जेम्स मिल ने अपने उपयोगितावाद का आधार 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' को बनाया है, लेकिन मिल ने उपयोगितावाद में जो संशोधन किए हैं, उनसे उपयोगितावाद में और अधिक जटिलताएँ आ गयी हैं और उसका उपयोगितावाद विरोधाभासी हो गया है। एक ओर तो वह उपयोगितावाद के विरोधियों की आलोचनाओं का उत्तर देना चाहता है और दूसरी ओर वह स्वयं परम्परावादी उपयोगितावाद में संशोधन कर डालता है-ऐसे और इतने व्यापक संशोधन कि उपयोगितावाद का सिद्धान्त ही निर्मूल और निरर्थक हो जाता है। इससे हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि वह उपयोगितावाद का समर्थक है या आलोचक। इसी से जुड़ा एक प्रश्न यह भी है कि उपयोगितावाद-सम्बन्धी उसके विचार बेन्थम के उपयोगितावाद से किस सीमा तक संगति रखते हैं।

Q. स्वतन्त्रता पर जे.एस. मिल के विचारों की विवेचना कीजिए। (Discuss J.S. Mill's views on Liberty.)

अथवा

जे.एस. मिल के स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की परीक्षा कीजिए। (Examine J.S. Mill's theory of Liberty.)

उत्तर-जे.एस. मिल के स्वतन्त्रता-सम्बन्धी विचारों की व्याख्या हमें 1859 में प्रकाशित उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' (On Liberty) में मिलती है। 19वीं शताब्दी के मध्य में व्यक्ति की स्वतन्त्रता इंग्लैण्ड के राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख विषय बन गयी थी। बेन्थम और अन्य उपयोगितावादी विद्वानों द्वारा सुझाए गए सुधारों के परिणामस्वरूप शासन का क्षेत्र और नागरिकों के जीवन पर राज्य का नियन्त्रण बढ़ गया था। इंग्लैण्ड औद्योगिक क्रान्ति की ओर अग्रसर हो रहा था और बाल श्रम-सम्बन्धी कानूनों ने बच्चों की अपनी आजीविका कमाने की स्वतन्त्रता और माता-पिता की उनको काम पर भेजने की स्वतन्त्रता को सीमित कर दिया था। फैक्ट्री कानूनों ने स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिए थे। उद्योगपति भी इन कानूनों से अपनी स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित मानते थे।

ऐसी परिस्थितियों में स्वतन्त्रता के उपासक जे. एस. मिल के लिए, उसका जोरदार शब्दों में वकालत करना सर्वथा स्वाभाविक ही था। उसने अपने ग्रन्थ '**ऑन लिबर्टी' में** व्यक्ति की विचार अभिव्यक्ति की तथा कार्यों की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया है। उसकी धारणा थी कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता न केवल संसद के हस्तक्षेप से, बल्कि जनता के दबाव से भी मुक्त होनी चाहिए, क्योंकि उसे यह विश्वास हो गया था कि जनता का बहुमत भी उतना ही आततायी हो सकता है, जितने आततायी इंग्लैण्ड के निरंकुश राजा थे। इसलिए उसने लोकतान्त्रिक सरकार की शक्तियों को मर्यादित रखने पर बल दिया। इस दिशा में तब वह ओर भी आगे बढ़ गया, जब उसने देखा कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सरकार ही नहीं कुचलती, बल्कि समाज भी इसको आघात पहुँचाता है। इसलिए वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को राज्य के कानूनों और समाज की मान्यताओं, मूल्यों और विश्वासों से सुरक्षित रखने का प्रयास करता है।

स्वतन्त्रता के प्रकार (Kinds of Liberty)-मिल व्यक्ति की जिस स्वतन्त्रता का समर्थन करता है, वह विस्तृत एवं व्यापक स्वतन्त्रता है, क्योंकि वह व्यक्ति के व्यक्तित्त्व को समृद्ध एवं विकसित करना चाहता है। मिल की स्वतन्त्रता की अवधारणा बेन्थम तथा जेम्स मिल की स्वतन्त्रता की अवधारणाओं से एकदम भिन्न है। ये दोनों व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सामान्य सुख के अधीन कर देते हैं, क्योंकि ये स्वतन्त्रता को व्यक्ति के सुख का साधन मानते हैं; स्वयं में एक साध्य नहीं। किन्तु मिल के लिए स्वतन्त्रता स्वयं में ही एक साध्य है, अपने से अलग किसी अन्य साध्य के लिए साधन नहीं। मिल ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को दो भागों में विभाजित किया है-

1. विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression)-मिल व्यक्ति की विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन इसलिए करता है, क्योंकि वह यह मानता है कि यह व्यक्ति के मानसिक एवं नैतिक विकास के लिए अपरिहार्य हे और साथ ही यह समाज के लिए भी हितकारी है। उसकी धारणा है कि स्वतन्त्र वाद-विवाद से ही रचनात्मक और कल्याणकारी विचारों की उत्पत्ति होती है। मिल का कहना है कि सरकार को किसी भी व्यक्ति के विचारों को कुचलने का अधिकार नहीं है, भले ही सरकार के पीछे जनमत की शक्ति हो। यदि सरकार जनमत के अनुसार व्यक्ति के विचारों को कुचलती है, तब भी उसका कार्य उतना ही घृणित है, जितना कि जनमत के विरुद्ध होने पर। यदि एक व्यक्ति के अलावा सम्पूर्ण मानव जाति का एक ही मत हो जाए, तो भी मानव जाति को उसे उसी तरह जबरदस्ती चुप करने का अधिकार नहीं है, जिस तरह उस व्यक्ति को सम्पूर्ण मानव जाति को चुप करने का अधिकार नहीं है।

मिल की धारणा है कि किसी व्यक्ति का परम्परा के विरुद्ध विश्वास सही भी हो सकता है और गलत भी; या फिर आशिक रूप से सही और आंशिक रूप से गलत हो सकता है। यदि व्यक्ति का विश्वास सही है तो समाज द्वारा उसे कुचल देने का अर्थ होगा-सत्य का गला घोंटना, जो यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए बहुत हानिकारक है। इसके विपरीत, यदि उसका विश्वास गलत है, तब भी उसका गला घोंटना अनुचित है, क्योंकि ऐसा करने से समाज सत्य के उस स्पष्टतर रूप से वंचित हो जाएगा, जो सत्य का असत्य के साथ संघर्ष होने से प्रकट होता है। इसके अलावा, यदि किसी व्यक्ति का परम्परा के विरुद्ध विश्वास जआंशिक रूप से सही है, तो भी वह समाज के परम्परागत विचारों को परिशोधित करेगा और जिस सीमा तक वह ऐसा करेगा, उसी सीमा तक वह समाज के लिए लाभकारी होगा। विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के तार को स्पष्ट करते हुए मिल कहता है, "विचार की अभिव्यक्ति को रोकने का एक विलक्षण दोष यह है कि ऐसा करना मानव जाति को, आने वाली तथा वर्तमान नस्लों को लूटना है और इससे उस विचार के विरोधियों को उस विचार के देने वालों की अपेक्षा कहीं अधिक हानि होती है।"

2. कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Actions)-विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के साथ-साथ मिल ने मनुष्य की कार्य की स्वतन्त्रता का भी समर्थन किया है। उसका विचार है कि जब व्यक्ति का विकास होता है, तो उससे समाज का विकास स्वयं हो जाता है। अतः राज्य या समाज को व्यक्ति के कार्य करने की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित नहीं करना चाहिए। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में विभक्त करता है-स्व-सम्बन्धी कार्य (Self-regarding Actions) और पर-सम्बन्धी कार्य (Other-regarding Actions).

मिल व्यक्ति के स्व-सम्बन्धी कार्यों में उन कायों को सम्मिलित करता है, जिनका सम्बन्ध स्वयं उसी व्यक्ति से होता है और जो दूसरों को प्रभावित नहीं करते है, जब कि पर-सम्बन्धी कार्यों में वह उन कार्यों को सम्मिलित करता है, जिनका सम्बन्ध स्वयं व्यक्ति से नहीं, बल्कि दूसरे व्यक्तियों से होता है और ये समाज को प्रभावित करते हैं। मिल का कहना है कि समाज व्यक्ति के स्व-सम्बन्धी कार्यों पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता है, क्योंकि व्यक्ति के नैतिक हित के नाम पर समाज के पास उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करने का कोई अधिकार नहीं है। समाज उससे तर्क-वितर्क कर सकता है; उसके किसी कार्य की अनीचित्य या अवांछनीयता समझ सकता है; किन्तु समाज उसे ऐसे कार्य न करने के लिए विवश नहीं कर सकता है, जिनका सम्बन्ध उसके निजी जीवन से है। इसके विपरीत, व्यक्ति के उन कार्यों, जिनका सम्बन्ध उसके निजी जीवन से नहीं होता है और जो समाज को प्रभावित करते हैं, पर समाज अपेक्षित रोक लगा सकता है। यहाँ तक कि व्यक्ति को ऐसे कार्यों को करने से रोकने के लिए समाज बल का प्रयोग भी कर सकता है। व्यक्ति की कार्य की स्वतन्त्रता को स्पष्ट करते हुए मिल कहता है, "स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को रुचि तवा

उद्देश्य-सिद्धि की, अपने चरित्र के अनुकूल अपनी जीवन-योजना बनाने की तवा अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस प्रकार की स्वतन्त्रता में बाँया डालने का अधिकार दूसरों को उस समय तक नहीं होना चाहिए, जब तक कि उसका कोई कार्य उन्हें हानि न पहुँचाता हो, भले ही वे उसके कार्य को मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट तया गलत समझते हों।"

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मिल विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को सर्वया निर्बाध और असीमित रखना चाहता है, लेकिन वह यह अवश्य ही स्वीकार करता है कि व्यक्ति को किसी कार्य के करने की स्वतन्त्रता केवल उस सीमा तक ही है, जिस तक सीमा वह दूसरों के मार्ग में बाधक न हो। इस सीमा के अन्दर रहते हुए ही व्यक्ति को अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए स्वतन्त्र रहने देना चाहिए। मिल जित स्वतन्त्रता की प्रशंसा करता है, वह नकारात्मक स्वतन्त्रता ही नहीं है, बल्कि सकारात्मक आदर्श भी है। उसे राज्य से कोई शिकायत नहीं, बल्कि उसके नागरिकों की दासतापूर्ण और असहिष्णुतापूर्ण भावना से शिकायत है। उसका आदर्श एक ऐसे राज्य की माँग करता है, जिसके सदस्य वास्तव में व्यक्ति हों; जिन्हें अपने व्यक्तित्त्व एवं विविधता पर गर्व हो और जो अपने और दूसरों के व्यक्तित्त्व का सम्मान करते हों।

सीमाएँ एवं अपवाद (Limits and Exceptions)-मिल व्यक्ति को जो स्वतन्त्रता प्रदान करता है, वह उस पर कुछ सीमाएँ भी लगाता है और उसके कुछ अपवादों का भी उल्लेख करता है, जैसे-

1. उसका स्वतन्त्रता का यह सिद्धान्त परिपक्व व्यक्तियों पर लागू होता है; बच्चों या एक निश्चित आयु से कम आयु वाले व्यक्तियों पर नहीं, क्योंकि इनकी अपरिपक्व शारीरिक और मानसिक अवस्था की यह माँग होती है कि वे दूसरे परिपक्व लोगों की देख-रेख में रहें। उसका यह अपवाद सर्वथा उचित ही जान पड़ता है, किन्तु जब वह पिछड़े हुए राष्ट्रों अथवा पिछड़ी हुई प्रजातियों को स्वतन्त्रता से वंचित करता है, तब यह अपवाद औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि कोई भी साम्राज्यवादी राष्ट्र कभी भी ऐसे राष्ट्रों पर अपने निरंकुश शासन के औचित्य को सिद्ध करने के लिए मिल के इन तों का सहारा ले सकता है।

2. मानव के आत्म-विश्वास के लिए विचार और अभिव्यक्ति की निर्वाध और असीमित स्वतन्त्रता को तो वह आवश्यक मानता है, लेकिन कार्यों के विषय में वह व्यक्ति को असीमित स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करता है। उसके अनुसार व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता उस सीमा तक ही है, जिस सीमा तक उसके कार्यों से दूसरे व्यक्तियों को कोई हानि नहीं होती है। निःसन्देह वैचारिक क्षेत्र की भाँति कार्यों के क्षेत्र में असीमित स्वतन्त्रता देना हितकर नहीं है।

3. व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का स्वतन्त्र विकास, जिस पर मिल बहुत अधिक बल देता है, समाज में विषमता उत्पन्न कर सकता है। इससे समाज में उच्च कोटि के मनुष्य विशिष्ट स्थान प्राप्त कर देंगे और शेष मनुष्य एक साधारण समूह में बदल जाएंगे। मिल चाहता है कि श्रेष्ठतर व्यक्ति मानव जाति का पथ-प्रदर्शन करें और अपना अनुकरण करने वाले व्यक्तियों को समझाएँ-बुझाएँ, किन्तु उनके ऊपर शासन न करें।

आलोचना (Criticism) — यद्यपि जे. एस. मिल 19वीं शताब्दी का ऐसा विचारक है, जिसने राज्य के निरन्तर बढ़ते कार्य-क्षेत्र का विरोध करते हुए मानवीय स्वतन्त्रता का प्रवल समर्थन किया है और जिसने स्वतन्त्रता की अधिक गहन और सार्थक अवधारणा हमारे सम्मुख रखी है, फिर भी स्वतन्त्रता के उसके सिद्धान्त में अनेक दोष हैं, जिनके कारण उसे 'एक खोखली स्वतन्त्रता और अमूर्त व्यक्ति का सन्देशवाहक' कहकर पुकारा गया है। मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों में निम्नलिखित प्रमुख दोष हैं-

1. असीमित स्वतन्त्रता का समर्थन (Support to Unlimited Freedom)-मिल का मानना है कि व्यक्ति अपने शरीर और मस्तिष्क का स्वामी है; इसीलिए उसे अपने से सम्बन्धित कार्यों के विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए और इस नाते राज्य को उस पर कोई प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार मिल व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है और असीमित स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक बन जाता है, किन्तु कई बार व्यक्ति की भलाई के लिए उसकी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति को स्वयं का स्वामी मानने का परिणाम यह भी हो सकता है कि वह स्वयं को, अपने परिवार को और समाज को हानि पहुँचा दे। ऐसी स्थिति में उसकी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना अनुचित नहीं है, लेकिन मिल तो असीमित स्वतन्त्रता का समर्थन करता है।

2. स्वतन्त्रता की नकारात्मक अवधारणा (Negative Concept of Freedom)-मिल जिस स्वतन्त्रता की बात करता है, वह नकारात्मक स्वतन्त्रता है, जिसका अभिप्राय होता है-बन्धनों का अभाव और व्यक्ति को मनमानी करने की छूट। यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के ऊपर कोई बन्धन नहीं होगा, तो किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित न रहेगी। आर्थिक क्षेत्र में इसके कारण व्यापक विषमता उत्पन्न हो जाएगी और शोषण का रास्ता साफ हो जाएगा और इससे समानता की अवधारणा ही मूल्यहीन हो जाएगी। इस प्रकार मिल जिस स्वतन्त्रता की बात करता है, वह स्वतन्त्रता नहीं, बल्कि स्वच्छन्दता है, क्योंकि बन्धनों का अभाव स्वतन्त्रता को स्वच्छन्दता में परिणित कर देता है।

3. मानव कार्यों का विभाजन दो श्रेणियों में सम्भव नहीं है (Classification of Human Actions into Two Categories is not Possible)-मिल स्वतन्त्रता के अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते समय मनुष्य के कार्यों को दो श्रेणियों में विभक्त करता है-स्व-सम्बन्धी कार्य और पर-सम्बन्धी कार्य । स्व-सम्बन्धी कार्य वे कार्य हैं, जिनका सम्बन्ध स्वयं व्यक्ति से होता है। वह व्यक्ति के इन कार्यों में समाज को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं देता है। पर-सम्बन्धी कार्य व्यक्ति के वे कार्य होते हैं, जिनका सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियों से होता है। मिल के मतानुसार समाज व्यक्ति को इन कार्यों को करने से रोक सकता है। वस्तुस्थिति यह है व्यक्ति के कार्यों को दो श्रेणियों में विभक्त ही नहीं किया जा सकता है, क्योंकि व्यक्ति का ऐसा कोई कार्य नहीं होता, जिसका सम्बन्ध समाज से न हो और जो समाज को प्रभावित न करता हो। यहाँ तक कि व्यक्ति के खाने-पीने और सोने के कार्यों के भी सामाजिक परिणाम होते हैं।

4. विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भ्रामक (Freedom of Thought and Expression is Misleading)-मिल विचार एवं अभिव्यक्ति की निर्वाध स्वतन्त्रता का समर्थक है। वह तो यहाँ तक भी कहता है कि सनकियों तक को विचार अभिव्यक्त करने से नहीं रोका जाना चाहिए। इतना ही नहीं, उसके मतानुसार तो सम्पूर्ण समाज की धारणाओं को अस्वीकार करने वाले एक अकेले व्यक्ति को भी विचार-

अभिव्यक्त करने से रोकना अनुचित है। ऐसी स्वतन्त्रता न तो उसके उपयोगितावाद से संगति रखती है और न ही यह व्यावहार में हितकारी सिद्ध हुई है। किसी युग की समाज व्यवस्था के संचालन में समाज के विचारों से असहमति रखने वाले व्यक्ति के विचार व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं।

5. अराजकता की सम्भावना (Possibility of Anarchy)-मिल व्यक्ति की जिस अप्रतिबन्धित स्वतन्त्रता का समर्थन करता है, उससे समाज में अराजकता फैल सकती है, क्योंकि प्रतिबन्धों के अभाव में सभी व्यक्ति मनमाना आचरण करने लगते हैं। समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कुछ-न-कुछ प्रतिबन्ध तो लगाने ही पड़ते हैं; अन्यथा समाज में अराजकता फैल जाती है।

6. विरोधाभासी सिद्धान्त (Poradxical Theory)-मिल का स्वतन्त्रता का यह सिद्धान्त काफी सीमा तक विरोधाभासी प्रतीत होता है। एक ओर वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन करता है और दूसरी ओर वह स्वयं इस पर कुछ सीमाएँ आरोपित करता है और इसके कुछ अपवाद भी बताता है। बच्चों तथा एक निश्चित आयु से कम आयु के अपरिपक्व व्यक्तियों को स्वतन्त्रता से वंचित करना तो हमारी समझ में आता है, लेकिन वह तो पिछड़े हुए राष्ट्रों एवं पिछड़ी हुई प्रजातियों तक को स्वतन्त्रता के अधिकार से वंचित कर देता है।

निष्कर्ष (Conclusion)- जे. एस. मिल के स्वतन्त्रता-विषयक विचारों में कई गम्भीर दोष हैं, जिनके कारण उसके इन विचारों की काफी आलोचना हुई है। इसी आधार पर बार्कर ने उसे 'खोखली स्वतन्त्रता और अभूर्त व्यक्ति का पैगम्बर' तक कह डाला है, लेकिन तब भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रति जो उसका अनुराग है, वह समाप्त नहीं होता है। उसने एक ऐसे समय में जब राज्य के कार्य-क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हो रही थी, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की न केवल सरकार के, बल्कि समाज के अतिक्रमण से भी रक्षा की। वस्तुतः उसकी पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' स्वतन्त्रता की महान् अभिव्यक्ति है। यद्यपि सेवाइन स्वतन्त्रता-सम्बन्धी उसके विचारों को अधूरा मानता है, तो भी स्वतन्त्रता के समर्थकों की सूची में उसका नाम मिल्टन, रूसो और पेन के साथ ही आता है।

Unit-III

जार्ज विलहेम फ्रेड्रिक हीगल (1770-1831 ई.)

Q. हीगल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। (Discuss Hegel's theory of Dialectic.)

उत्तर- हीगल के अनुसार, मानव सभ्यता का विकास कभी एक सीधी रेखा में नहीं होता है, बल्कि यह टेढ़े-मेढ़े रास्ते से गुजरती हुयी आगे की ओर बढ़ती है। उसके अनुसार यह विश्व स्थायी वस्तु न होकर एक गतिशील वस्तु है, जो निरन्तर विकास की ओर अग्रसर है। इसलिए इसका अध्ययन विकासवादी दृष्टिकोण में किया जाना चाहिए। हीगल की धारणा है कि विश्व के विकास की इस प्रक्रिया में निम्नकोटि की वस्तुएँ उच्चकोटि की वस्तुओं में विकसित होती हैं और अन्ततः पूर्णता प्राप्त कर लेती हैं। इस विकास-प्रक्रिया में वस्तुओं की निम्नता नष्ट होकर उच्चता धारणा कर लेती है। विकसित होने के पश्चात् कोई भी वस्तु वह नहीं रहती, जो वह पहले होती है, क्योंकि वह पहले की अपेक्षा उन्नत हो जाती है। विकास की इस पद्धति को हीगल द्वन्द्वात्मक पद्धति कहता है।

'द्वन्द्ववाद' शब्द का अंग्रेजी रूपान्तर 'डायलेक्टिक' है, जिसकी उत्पत्ति यूनानी भाषा के उस 'डायलेगो' (Dialego) शब्द से हुयी है, जिसका अर्थ है, बाद विवाद करना। प्राचीन यूनान में मत्य तक पहुंचने के लिए वाद-विवाद की प्रक्रिया का सहारा लिया जाता था। सुकरात की शिक्षा पद्धति का आधार द्वन्द्ववाद था, जिसके अन्तर्गत प्रश्नोत्तरों के द्वारा तर्क-वितर्क की प्रक्रिया से किसी विचार के विरोधी पक्षों का खण्डन-मण्डन करते हुए अन्तिम सत्य तक पहुँचा जाता था। प्लेटो ने अपने गुरु सुकरात की पंद्धति को अपने डायलोगों में प्रयुक्त किया है। हीगल इस पद्धति को ऐतिहासिक विकास-क्रम की व्याख्या करने में लागू करते हुए यह निष्कर्ष निकालता है कि इतिहास विश्वात्मा के इस संसार में प्रयाण का अभिलेख है।

द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त हीगल का मौलिक विचार नहीं है। उसके पूर्ववर्ती विचारक फिक्टे और उसके समकालीन चिन्तक शेलिंग ने इस सिद्धान्त की व्याख्या उसी प्रकार की है, जिस प्रकार हीगल ने की है। शेलिंग ने इस सिद्धान्त की व्याख्या उसकी 'इतिहास का दर्शन' (Philsophy of History) पुस्तक छपने से पहले कर दी थी। किन्तु जिन तर्कों के आधार पर हीगल ने इसकी व्याख्या की उससे यह और भी अधिक स्पष्ट हुआ है। हीगल ने द्वन्द्ववाद की इस पद्धति की व्याख्या करते हुए लिखा है, सर्वप्रथम प्रत्येक वस्तु का एक मौलिक रूप होता है, जो वाद (Thesis) होता है। विकासबाद के अनुसार वह वस्तु आगे बढ़ती है और तब उसका विकसित रूप, इसके मौलिक रूप से बिल्कुल उल्टा हो जाता है, जिसे प्रतिवाद (Anti-thesis) कहते हैं। कातान्तर में विकास के सिद्धान्त के अनुसार मौलिक रूप तथा विपरीत रूप आपस में मिल जाते हैं और इन दोनों के मिलने से संवाद (Synthesis) उत्पन्न हो जाता है। यह संवाद कुछ दिनों व्गद फिर

मौलिक रूप वाद बन जाता है और फिर वही प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है।"

हीगल के मतानुसार यह विकास-प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है अर्थात् यह आन्तरिक विरोध के द्वारा परिचालित होती है। इसका प्रत्येक सोपान वाद, प्रतिवाद और संवाद-इन तीन कड़ियों, (त्रयी) से बना है। हम प्रत्येक त्रयी (Triad) द्वारा सत्यान्वेषण की एक सीढ़ी चढ़ते हुए उसके उच्च स्तर तक पहुँच जाते हैं। फिर यह उच्चस्तर या संवाद एक नयी त्रयी का वाद (Thesis) बन जाता है और उसका भी प्रतिवाद से होकर एक और उच्चतर नवीन संवाद प्रकट होता है, जो फिर एक नयी त्रयी का वाद बन जाता है। इस प्रकार वाद, प्रतिवाद और संवाद का क्रम निर्वाध रूप से चलता रहता है। विकास की यह क्रिया आगे बढ़ना, पीछे हटना, पुनः आगे बढ़ना- इस प्रकार की टेढ़ी-मेढ़ी रेखा द्वारा सम्पन्न होती है। किन्तु आगे बढ़कर पीछे हटने और पुनः आगे बढ़ने से हम उसी स्थान पर नहीं पहुँचते, जहाँ से हम चले थे, बल्कि उससे उच्चतर स्थान पहुँच जाते हैं। हम इस द्वन्द्ववाद को निम्नलिखित सूत्र के द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं-

वाद (Thesis) > प्रतिवाद (Anti-thesis) > संवाद या नया वाद (Synthesis or New Thesis) > प्रतिवाद (Anti-thesis) > संवाद (Synthesis)

जैसा कि इस चित्र से स्पष्ट है, हम वाद से उल्टी दिशा में चलकर प्रतिवाद पर पहुंचते हैं। फिर प्रतिवाद की उल्टी दिशा में चलकर संवाद पर पहुँचते हैं, किन्तु यह वाद वाला बिन्दु न होकर उससे उच्चतर धरातल वाला विन्दु है। इस द्वन्द्वात्मक पद्धति को हम 'निषेध का निषेध' (Negation of Negation) भी कह सकते हैं। हीगल के अनुसार विकास का यही क्रम है और इस क्रम के अन्तर्गत संसार की समस्त वस्तुओं, व्यवस्थाओं, संस्थाओं आदि के विकास-क्रम की ऐतिहासिकता को समझा जा सकता है।

हीगल सामाजिक संगठनों के विकास पर भी द्वन्द्वात्मक पद्धति को लागू करता है। सामाजिक जीवन की प्रथम इकाई परिवार है। यह वाद हुआ। । परिवार में कुछ आन्तरिक विरोध आ जाता है, जिसके कारण नागरिक समाज की उत्पत्ति होती है। यह प्रतिवाद हुआ। इस समाज में एकता की जगह कटुता और प्रतियोगिता उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे राज्य का जन्म होता है। यह संवाद हुआ। इन संस्थाओं के विकास में विश्वात्मा (Universal Spirit) कार्य कर रही होती है, जिसकी प्रकृति पूर्णता की ओर बढ़ने की होती है। हीगल के अनुसार विश्वात्मा राज्य के रूप में प्रकट होकर पूर्णता को प्राप्त कर लेती है।

हीगल की इस द्वन्द्वात्मक पद्धति अथवा द्वन्द्ववाद की निम्नलिखित **विशेषताएँ** हैं-

1. निरन्तरता (Continuity)-हीगल के मतानुसार जड़-चेतन और नाम रूपमय विश्व के मूल में जो वस्तु है, वह विश्वात्मा (Universal Spirit) है। यह अपनी आन्तरिक प्रेरणा से अनेक रूपों में प्रस्फुटित होती रहती है। विश्वात्मा के विकास या प्रस्फुटन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, जिसके कारण नयी व्यवस्थाएँ उत्पन्न होती रहती हैं और पुरानी व्यवस्थाएँ नष्ट होती रहती हैं।

2. विकास की प्रक्रिया टेढ़ी-मेढ़ी (Zig-Zag Process of Evolution)-द्वन्द्ववाद के अनुसार विश्व का इतिहास प्रगति का इतिहास है, क्योंकि विश्वात्मा सदेव प्रगति की ओर अग्रसर होती रहती है; पतन की ओर नहीं अर्थात् वह पूर्णता प्राप्त करने की दिशा में ही अग्रसर होती है। विश्वात्मा के विकास की यह प्रक्रिया टेढ़ी-मेढ़ी चक्करदार, किन्तु निरन्तर ऊपर की ओर चढ़ती हुई रेखा के समान होती है। इसमें प्रत्येक चक्कर वाद, प्रतिवाद और संवाद की तीन कड़ियों से बना होता है।

3. विकास आन्तरिक विरोध द्वारा नियन्त्रित (Evolution Governed by Inner Contradiction)-हीगल के मतानुसार विकास की यह प्रक्रिया 'निषेध का निषेध' के नियम द्वारा संचालित होती है। उसके अनुसार व्यवस्थाओं में परस्पर विरोधी तत्त्व देखने को मिलते हैं। इन तत्त्वों के संघर्ष के कारण पुरानी व्यवस्थाएँ समाप्त होती रहती हैं और उनकी जगह नवी व्यवस्थाएँ लेती रहती है। वस्तुतः परस्पर विरोधी तत्त्वों का संघर्ष ही विकास का रहस्य है।

4. **संवाद की सर्वोच्चता (Supremacy of** Synthesis)-हीगल के अनुसार वाद, प्रतिवाद और संवाद के मिश्रण से जिस संवाद का सृजन होता है, वह इन दोनों से उच्चतर होता है, क्योंकि वह दोनों में निहित आशिक सत्यों का योग होता है। विश्वात्मा के विकास की प्रक्रिया आगे को बढ़ने वाली है; इसीलिए इसमें निम्न कोटि की व्यवस्थाएँ नष्ट होकर उच्च कोटि की व्यवस्थाओं में विकसित होती रहती हैं।

5. विवेकशीलता (Rationality)-हीगल का कहना है कि द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया के अन्तर्गत विश्व में होने वाली प्रत्येक घटना विवेकशील होती है, क्योंकि इस घटना के घटित होने में विश्वात्मा कार्य करती है। उसके मतानुसार जो भी संस्था या राज्य संघर्ष में सफल होते हैं, वे ही विश्वात्मा को अभिव्यक्त करते हैं।

आलोचना (Criticism)-हीगल की द्वन्द्ववाद की पद्धति की निम्नलिखित आधारों पर आलोचनाएँ की गयी हैं-

1. स्पष्टता का अभाव (Lack of Clarity)-हीगल के द्वन्द्ववाद का एक प्रमुख दोष यह है कि यह बहुत ही अधिक अस्पष्ट है। 'विचार', 'द्वन्द्व', निरपेक्ष विचार' और 'नागरिक समाज' इन शब्दों को उसने वे अर्थ दिए हैं, जैसा कि वह देना चाहता था। इन शब्दों और अन्य अनेक शब्दों का प्रयोग, अस्पष्ट और अनेक अयों वाला होता है, इसीलिए सम्भावना इस बात की है कि अलग-अलग व्यक्ति इनका अलग-अलग अर्थ लगा सकते हैं। उसके इस सिद्धान्त में अनेक सरलीकरण एवं सामान्यीकरण भरे पड़े हैं। वस्तुतः इतिहास की किसी भी अवस्था को वाद, प्रतिवाद या संवाद कहा जा सकता है, जिससे कि पूर्व-निर्धारित निष्कर्षों से इसका मेल हो जाए।

2. अवैज्ञानिक सिद्धान्त (Unscientific Theory)-हीगल का यह सिद्धान्त तर्क पर आधारित नहीं है, इसलिए इसमें वैज्ञानिकता का अभाव है। तार्किक आधार पर उसके द्वन्द्ववाद का यह अर्थ निकाला जाता है कि एक ही प्रस्थापना (Preposition) एक ही समय सत्य या असत्य में से एक ही हो सकती है। शोपन हाबर का कहना है कि हीगल का द्वन्द्ववाद वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है। यदि यह वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित होता, तो हीगल और मार्क्स, जिन्होंने इसे अपनाया, दोनों अलग-अलग निष्कों पर न पहुँचे होते। इस तार्किक आधार पर हीगल राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन' कहता है, जब कि मार्क्स इसे शैतान मानता है।

3. मानवीय तत्त्व की उपेक्षा (Negligence of Human Factor)-हीगल अपने द्वन्द्ववाद में मानवीय तत्त्व की पूर्ण उपेक्षा करता है, क्योंकि इसके जन्तर्गत वह यह मानता है कि इतिहास पूर्व-निर्धारित है। हीगल के अनुसार मानव इतिहास का निर्धारण मनुष्य नहीं, बल्कि विशाल गैर-मानवीय शक्तियों (Impersonal Powers) करती हैं। इतिहास का निष्पक्ष एवं तटस्थ अध्ययन हीगल के इस मत की पुष्टि नहीं करता, क्योंकि महापुरुषों की इच्छाएँ, अभिलाषाएँ, हस्तक्षेप एवं प्रयास इतिहास की दिशा को बदल देते हैं। हीगल ने इतिहास के निर्धारण में अपने समकालीन शासक नेपोलियन बोनापार्ट की भूमिका को भी नजरअन्दाज किया है।

4. विकास का अन्त नहीं होता (There is no End of Evolution)- अगर हीगल की प्रस्थापना को स्वीकार कर लिया जाए, तो जर्मनी जैसे राष्ट्र-राज्य में विश्वात्मा के प्रस्फुटन होने के बाद, विकास की प्रक्रिया रुक जाएगी, जब कि इस का कभी अन्त नहीं होता, बल्कि यह तो एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया होती है। सभी राज्यों की पारस्परिक निर्भरता का बढ़ना और संयुक्त राष्ट्र जैसे संगठनों का विकास हीगल के इस सिद्धान्त को झुठला देते हैं।

5. परम्परावाद की स्थापना (Establishment of Traditionalism)-मार्क्स और एन्जिल ने द्वन्द्ववाद के इस सिद्धान्त का प्रयोग समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए किया था; किन्तु हीगल इसका सहारा परम्परावाद को स्थापित करने के लिए लेता है। वह परिवर्तन विरोधी है और यथास्थिति (Status Quo) बनाए रखना चाहता है।

6. विरोध और भिन्नता में अन्तर नहीं करता (Makes no Difference between Opposite and Separate)-हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति का एक दोष यह है कि वह विरोध और मिन्नता में अन्तर न करके दोनों को एक ही मान बैठा है। इसके कारण वह दो सर्वथा भिन्न वस्तुओं या व्यवस्थाओं को एक-दूसरे का विरोधी मानने लगता है। इस विषय में रसेल का कहना है, "निर्वनता और सम्पन्नता एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि दो पृथक् स्थितियों हैं, किन्तु हीगल इन्हें परस्पर विरोधी मानता है।" इसी तरह हाब्हाउस (Habhouse) की धारणा है कि व्यक्ति और समाज में विरोध मानना हीगल की एक भूल है।

7. अव्यावहारिक (Unprgmatic)-हीगल की द्वन्द्ववाद की पद्धति को व्यावहारिक रूप प्रदान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वाद, प्रतिवाद और संवाद की अवधारणाएँ सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएँ ही हैं। इनको एक-दूसरे के सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी और तरीके से पहचाना नहीं जा सकता है।

निष्कर्ष (Conclusion)— यद्यपि हीगल के द्वन्द्ववाद में अनेक दोष हैं, किन्तु हम इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकते हैं कि यह पद्धति वस्तुओं का स्वरूप स्पष्ट करने में बहुत सहायक है, क्योंकि सुख की अनुभूति बिना दुख भोगे, प्रकाश की अनुभूति बिना प्रकाश देखे और सम्पन्नता का आभास बिना गरीबी भोगे नहीं हो सकती है। वस्तुतः विरोधी तत्त्वों को जाने बिना हमें सत्य का पूर्ण बोध नहीं होता है। इसके अलावा हीगल की इस पद्धति का महत्त्व इस तथ्य से भी प्रकट होता है कि मार्क्स ने इसका प्रयोग सामाजिक परिवर्तन के एक ऐसे सशक्त उपकरण के रूप में किया है, जिसने समूचे विश्व को प्रभावित किया है।

Q. हीगल के मुख्य राजनीतिक विचारों पर एक नोट लिखें। (Write a note on main political ideas of Hegel.)

उत्तर- जर्मन आदर्शवादियों में राजनीतिक चिन्तन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले व्यक्तियों की सूची में हीगल का नाम सबसे ऊपर आता है। उसके राजनीतिक दर्शन ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक राजनीति को बहुत प्रभावित किया है। वह 'केवल दर्शन का ही सम्राट् नहीं, बल्कि सम्राटों का दार्शनिक' है। एक राजनीतिक दार्शनिक के रूप में वह इतना अधिक प्रसिद्ध हो गया था कि अनेक शासक राजनीतिक विषयों पर उससे सलाह लेने आते थे। उसके राजनीतिक विचारों की व्याख्या हम निम्नलिखित शीर्षकों माध्यम कर सकते हैं-

1. द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectic Method)- हीगल के मतानुसार मानव सभ्यता का विकास कभी-भी एक सीधी रेखा में नहीं होता है, बल्कि मानव सभ्यता टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होती हुयी आगे की ओर बढ़ती है। विकास की इस प्रक्रिया में निम्न कोटि की वस्तुएँ उच्च कोटि की वस्तुओं में परिवर्तित होकर पूर्णता प्राप्त करती हैं। इसमें वस्तुओं की निम्नता नष्ट हो जाती है और इसकी जगह उच्चता ले लेती है। 'द्वन्द्व' शब्द का अंग्रेजी पर्यायवाची 'डायलेक्टिक' यूनानी भाषा के 'डायलेगो' (Dialego) शब्द से निकला है, जिसका अर्थ होता है-वाद-विवाद या तर्क-वितर्क करना, लेकिन हीगल इसे इस रूप में ग्रहण नहीं करता है। वह इसे वाद-विवाद के स्तर से उठाकर वाद, प्रतिवाद और संवाद के स्तर तक ले आता है। सभ्यता के दिक़ास-क्रम को द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार समझाते हुए वह कहता है कि सबसे पहले किसी वस्तु का एक मौलिक रूप होता है, जो बाद (Thesis) होता है। विकसित होने की प्रवृत्ति के कारण यह वाद अपने अन्तर्विरोधों के कारण अपने विरोधी रूप को जन्म देता है। यह प्रतिवाद (Anti-thesis) हुआ। विकास क्रिया अभी भी जारी रहती है, अतः वाद और प्रतिवाद में संघर्ष होता है और अन्ततः इन दोनों के संयोग से एक नया रूप उभर कर आता है, जिसे वह संवाद (Synthesis) का नाम देता है। यह संवाद, वाद और प्रतिवाद दोनों से श्रेष्ठ और उच्चतर होता है, क्योंकि इसमें इन दोनों के गुणों का समावेश होता है। विकास-क्रिया के जारी रहने के कारण कालान्तर में संवाद, वाद बन जाता है, फिर इसका प्रतिवाद प्रकट होता है और फिर से दोनों के संयोग से संवाद कायम हो जाता है।

2. राज्य-सम्बन्धी विचार (Views regarding State)-हीगल की धारणा है कि इस जड़-चेतन विश्व के मूल में जो वस्तु निहित है, वह विश्वात्मा है। यह विश्वात्मा गतिशील होती है और इसका उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। विश्वात्मा अपने इस विकास या प्रस्फुटन के दौरान अनेक सोपानों या अवस्थाओं से गुजरती है। हीगल की धारणा के अनुसार राज्य के रूप में प्रस्फुटित या प्रकट होकर विश्वात्मा पूर्णता को प्राप्त कर लेती है; इसीलिए राज्य एक सर्वोच्च संगठन है। विश्वात्मा के विकास की इस प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए ही वह राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण' (March of God on Earth) कहता है। इसका अभिप्रायः यह हुआ कि राज्य पृथ्वी पर विश्वात्मा का पार्थिव रूप है।

हीगल के अनुसार राज्य एक सावयव है (Organism) है और व्यक्ति इसका एक अवयव (अंग) है। जिस प्रकार सावयव अपने अंगों से बड़ा और श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार राज्य भी व्यक्तियों से बड़ा और श्रेष्ठ है। इस प्रकार हीगल का राज्य सर्वशक्तिमान और सर्वोच्च संगठन है। वह अपने में एक साध्य है और व्यक्ति उसका एक साधन मात्र है, क्योंकि राज्य से अलग उसका उसी प्रकार कोई अस्तित्त्व नहीं रह जाता है,

हीगल का राज्य नैतिकता की दृष्टि से भी सर्वोच्च संगठन है। उसकी शक्ति पर नैतिकता का कोई प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि राज्य स्वयं नैतिकता का नियामक है। हीगल राष्ट्र-राज्य को विश्वात्मा के विकास की अन्तिम और सर्वोच्च अवस्था मानता है, इसीलिए राष्ट्र-राज्य पूर्ण रूप से एक ऐसी स्वतन्त्र संस्था है, जिस पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून या अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस प्रकार हीगल राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सर्वशक्तिमान एवं निरपेक्ष संस्था मानता है।

3. सम्प्रभुता-सम्बन्धी विचार (Views regarding Sovereignty)- चूँकि हीगल राज्य को विश्वात्मा के विकास अथवा प्रकटीकरण की अन्तिम और सर्वोच्च अवस्था मानता है, इसीलिए वह राज्य को पूर्ण रूप से सम्प्रभुतासम्पन्न संस्था मानता है। इसी आधार पर वह राज्य की सम्प्रभुता पर कोई बन्धन नहीं लगाता है। वह सम्प्रभुता को नैतिक बन्धनों से मुक्त रखता है, क्योंकि राज्य ही नैतिकता का नियामक है और वही नैतिकता के मापदण्ड या कसौटियों निर्धारित करता है। इस तरह एक सम्प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र-राज्य अन्य राज्यों से अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध बनाने के लिए स्वतन्त्र है अर्थात् कोई भी राज्य अपनी इच्छानुसार किसी अन्य राज्य से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध कायम रख सकता है या फिर युद्ध कर सकता है। अतः किसी भी राज्य को विश्व-शांति के नाम पर मनमानी करने से नहीं रोका जा सकता है।

4. स्वतन्त्रता-सम्बन्धी विचार (Views regarding Liberty)-हीगल की स्वतन्त्रता की अवधारणा स्वतन्त्रता की परम्परागत व्यक्तिवादी अवधारणा से भिन्न है। हीगल की स्वतन्त्रता की अवधारणा न केवल इससे भिन्न है, बल्कि इसके एकदम उल्टा भी है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ सामाजिक नियमों की सीमा में रहकर अपनी इच्छानुसार कार्य करना नहीं है, बल्कि इसका अर्थ राज्य के आदेशों का पालन करना है, भले ही ये आदेश व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध हो। हीगल स्वतन्त्रता की अवधारणा की इस प्रकार की व्याख्या इसलिए करता है, क्योंकि वह राज्य को विश्वात्मा की अन्तिम और सर्वोच्च अभिव्यक्ति मानता है। वह व्यक्ति को भी विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मानता

है, किन्तु अन्तिम और सर्वोच्च अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि आंशिक और निम्नस्तरीय अभिव्यक्ति। उसके मतानुसार व्यक्ति पूर्णता तब ही प्राप्त कर सकता है, जब वह अपने उच्चतम और श्रेष्ठतम रूप राज्य के आदेशों के अनुसार कार्य करे। हीगल के अनुसार राज्य के आदेशों का व्यक्ति द्वारा अक्षरशः पालन करना ही सच्ची स्वतन्त्रता है और यही व्यक्ति की पूर्णता और आत्म-बोध की प्रतीक है। हीगल की स्वतन्त्रता की अवधारणा का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रो. हरिदत्त वेदालंकार लिखते हैं, "मनुष्य स्वार्थी है; वह संकीर्ण दृष्टि रखता है; उसमें काम-क्रोय, राग -द्वेष, और मोह की भावनाएँ उसकी इच्छा को दूषित करने वाली हैं। इन वासनाओं तया इच्छा से प्रेरित होकर कार्य करना स्वतन्त्रता नहीं, अपितु दासता है। राज्य विश्वात्मा के विकास का चरम रूप है, यह विभिन्न व्यक्तियों की क्षुद्र वासनाओं और संकीर्ण दृष्टि से ऊपर उठा हुआ है; अतः उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करना ही सच्ची स्वतन्त्रता है।"

हीगल का विचार है कि यदि व्यक्ति राज्य द्वारा दिए जाने वाले दण्ड के भय से, राज्य की आज्ञा का पालन करता है, तो ऐसा करना व्यक्ति की सच्ची स्कन्त्रता नहीं माना जाएगा। अगर व्यक्ति स्वेच्छा और प्रसन्नता से राज्य की आज्ञा को विश्वात्मा की इच्छा समझकर उसका पालन करता है, तो यह सच्चे अर्थ में अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। हीगल की धारणा है कि राज्य की आज्ञा या कानून कभी भी अन्यायपूर्ण एवं अनुचित नहीं हो सकते हैं, इसलिए व्यक्ति को सदैव इनका पालन करना चाहिए; विरोध नहीं। राज्य व्यक्ति के लिए न्यायपूर्ण और उसकी स्वतन्त्रता का सच्चा प्रतीक है। हीगल की स्वतन्त्रता की यह धारणा पूर्णतः सकारात्मक (Positive) है। वस्तुतः वह राज्य के आदेश और व्यक्ति की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का विरोध या टकराव नहीं मानता है; इसीलिए वह राज्य के आदेशों के पालन में ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता को तलाशता है।

5. शासन-सम्बन्धी विचार (Views regarding Government)-हीगल शासन के रूपों और अंगों की व्याख्या भी द्वन्द्ववाद के आधार पर करता है। वह प्राचीन समय में पाए जाने वाले निरंकुश राजतन्त्रों को वाद मानता है। उसके मतानुसार इनमें निहित अन्तर्विरोधों के कारण इनका विरोध होने लगा और जनता ने इन्हें उखाड़ फेंका। इनके स्थान पर लोकतन्त्र शासन-व्यवस्था कायम हुई, अतः यह प्रतिवाद हुआ। तत्पश्चात् निरंकुश राजतन्त्र और लोकतन्त्र में संघर्ष हुआ, जिसके परिणामस्वरूप वैद्यानिक राजतन्त्र का अभ्युदय हुआ। यह संवाद की स्थिति है। हीगल वैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) को सर्वोत्कृष्ट, विकसित और पूर्ण व्यवस्था मानता है, क्योंकि इसमें वाद (निरंकुश राजतन्त्र) और प्रतिवाद (लोकतन्त्र) दोनों के गुणों का समावेश है। इसकी तुलना में अन्य शासन पद्धतियाँ अपूर्ण और निम्न-स्तरीय हैं।

यह सरकार के तीन अंगों की भी अपने ही ढंग से व्याख्या करता है। वह मान्टेस्क्यू द्वारा प्रस्तावित विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के स्थान पर विधानपालिका, कार्यपालिका और राजतन्त्र इन तीन अंगों को प्रस्तावित करता है। वह द्वन्द्ववाद की विकास-प्रक्रिया के अन्तर्गत विधानपालिका को वाद, कार्यपालिका, जिसमें वह न्यायपालिका को भी शामिल करता है, को प्रतिवाद और राजतन्त्र को संवाद की संज्ञा देता है। संवैधानिक राजतन्त्र, जिसके लिए वह 'राजतन्त्र' शब्दावली का प्रयोग करता है, प्रथम दोनों की तुलना में पूर्ण है। उसके मतानुसार 'संवैधानिक राजतन्त्र एक मिली-जुली शासन व्यवस्था का द्योतक है, क्योंकि इसमें लोकतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा राजतन्त्र के तत्त्वों का समावेश है। क्योंकि हीगल विधानपालिका को लोकतन्त्र का, कार्यपालिका को कुलीनतन्त्र का और संवैधानिक राजतन्त्र को राजतन्त्र का प्रतीक मानता है, इसलिए वह मान्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) को स्वीकार नहीं करता है और सरकार के अंगों की शक्तियों को एक-दूसरे से स्वतन्त्र और पृथक् नहीं मानता है, बल्कि सरकार के तीनों अंगों और उनमें निहित तीनों शक्तियों को एक-दूसरे की पूरक तथा एक उच्च समष्टि (Whole) के अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार करता है।

हीगल द्विसदनीय विधानपालिका को श्रेष्ठ मानता है, लेकिन वह जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व की व्यवस्था को निरर्थक बताता है, क्योंकि वह व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि विभिन्न संस्थाओं और संगठनों के सदस्य के रूप में देखता है। उसके अनुसार व्यक्ति का राज्य से सम्बन्ध विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से होता है। अतः वह विधानपालिका में व्यक्ति को व्यक्तियों के प्रतिनिधि के रूप में मान्यता नहीं देता है, बल्कि उसके द्वारा निर्मित्त संस्थाओं और संघों के प्रतिनिधि के रूप में ही मान्यता देता है। इस प्रकार वह क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व (Territorial Representation) के स्थान पर व्यवसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) का समर्थन करता है। हीगल विधानपालिका के पहले सदन का निर्माण भूमिपतियों के वर्ग से करता है और दूसरे सदन का निर्माण राजा के आदेश से विभिन्न व्यवसायिक संघों और संस्थाओं द्वारा निर्वाचित सदस्यों से करता है। वह कार्यपालिका को विधानपालिका की तुलना में अधिक महत्त्व देता है, क्योंकि शासन-संचालन की प्रमुख शक्ति इसी के हाथों में रहती है। इस तरह वह आज की लोकतान्त्रिक व्यवस्था के समान कार्यपालिका को विधानपालिका के नियन्त्रण में नहीं रखता है।

6. अन्तर्राष्ट्रीयबाद और युद्ध-सम्बन्धी विचार (Views regarding Internationalism and War)-हीगल राष्ट्र-राज्य को राजनीतिक

संगठन का अन्तिम और परम विकसित रूप मानता है। उसकी यह दृढ़ धारणा है कि राष्ट्र-राज्य के विकास के बाद किसी और उच्चतर संस्था का विकास होना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि राष्ट्र-राज्य के स्तर पर विश्वात्मा का पूर्ण विकास या प्रस्फुटीकरण हो जाता है। काण्ट की तरह वह न तो अन्तर्राष्ट्रीयवाद का समर्थन करता है और न ही विश्व शान्ति की स्थापना के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना में विश्वास रखता है। यह अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विचार को एक मूर्खतापूर्ण विचार मानता है। वह राष्ट्र-राज्य को ही अन्तिम और सर्वोच्च संगठन मानता है। इस राष्ट्र राज्य के अस्तित्त्व को बनाए रखने के लिए वह युद्ध को एक अनिवार्य साधन मानता है। वह राष्ट्र-राज्य को अपने हितों की पूर्ति के लिए युद्ध करने का अधिकार देता है। वह अन्तरर्राष्ट्रीयवाद और विश्व शान्ति का इसीलिए विरोध करता है, क्योंकि ये दोनों राज्य को युद्ध करने के अधिकार से वंचित कर देते हैं। हम बेपर के, लार्ड एक्टन के प्रसिद्ध वाक्य के शब्दों को बदलकर हींगल की शान्ति-विषयक धारणा को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं, "शान्ति (मनुष्य को) भ्रष्ट कर देती है और स्थायी शान्ति स्वायी रूप से भ्रष्ट कर देती है।" इसीलिए हीगल शान्ति को कायरों का नारा बताकर युद्ध का गुणगान करता है और इसे बहुत उपयोगी और लाभदायक मानता है। उसके शब्दों में, "युद्ध मनुष्यों के विभिन्न सद्गुणों का विकास करता है; उनके हृदय में साहस, देशभक्ति, एकता, शूरवीरता और त्याग की भावना को जाग्रत् करता है।" इतना ही नहीं, वह युद्ध को, 'मानव जाति के नैतिक उत्थान और मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखने का एक अनिवार्य साधन' बताता है।

टी.एच. ग्रीन

टी.एच. ग्रीन के राजनीतिक विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या करो। (Critically explain the political ideas of T.H. Green.)

उत्तर : टी.एच. गीन को आदर्शवादी लेखकों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। यद्यपि ग्रीन से पूर्व भी जर्मन विचारकों काण्ट एवं हीगल ने आदर्शवादी विचारधारा को स्थापित किया लेकिन इस विचारधारा को व्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय हीगल को ही प्रदान किया जाता है। ग्रीन के राजनीतिक विचारों पर यूनानी चिन्तन, जर्मन आदर्शवाद, अंग्रेज विद्वान एवं साहित्यकार आदि के साथ-साथ समकालीन परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ा है।

ग्रीन के राजनीतिक विचारों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

1. स्वतंत्रता का समर्थन (Support to liberty): ग्रीन ने अपने राजनीतिक विचारों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए कहा है कि "मानवीय चेतना स्वतंत्रता की मांग करती है, स्वतंत्रता में अधि ाकार निहित होते हैं और अधिकार राज्य की मांग करते हैं।" (Human consciousness postulates liberty, liberty involves rights and rights demand the state. -Green)। यद्यपि ग्रीन ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन किया है लेकिन उन्हें इस कारण से व्यक्तिवाद का समर्थन नहीं माना जाना चाहिए। ग्रीन ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन सीमित रूप में ही किया है। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता तभी तक मान्य है जब तक कि व्यक्ति राज्य के कानूनों का पालन करता है।

ग्रीन ने **स्वतंत्रता के दो प्रकार बताए हैं-आन्तरिक एवं बाह्य।** आन्तरिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत व्यक्ति नैतिकता के आधार पर स्वयं अपनी बुरी मनोवृतियों पर अकुंश लगाता है। बाह्य स्वतंत्रता राजनीति का पिषव है। इसके अन्तर्गत ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना है जिसमें व्यक्ति अपना विकास कर सकें। इन परिस्थितियों का निर्माण राज्य में ही संभव है। अतः पूर्ण स्वतंत्रता केवल राज्य में ही संभव होती है।

2. अधिकारों के सम्बन्ध में विचार (Views regarding right): ग्रीन अधिकारों को मानवीय विकास की आवश्यक शर्त मानता है और इनका समर्थन करता है। ग्रीन के अधिकारों की अवधारणा उसके स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों का विस्तार है। ग्रीन का विचार है कि स्वतंत्रता का उपभोग तभी हो सकता है जब परिस्थितियों का निर्माण किया जाए। ग्रीन ने इन्हीं परिस्थितियों को अधिकार का नाम दिया है। ग्रीन ने अधिकारों में कुछ मान्यताएं निर्धारित की हैं। अधिकारों अथवा सुविधाओं का उपयोग करते समय व्यक्ति को इन मान्यताओं का पालन भी अवश्य करना चाहिए। सर्वप्रथम मान्यता यह है कि जब व्यक्ति अधिकारों का उपयोग करे तो उसे यह मानना चाहिए कि अन्य व्यक्ति भी हैं जिन्हें इन अधिकारों की आवश्यकता है। इसके साथ यह भी स्वीकार करना चाहिए कि अधिकारों की सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हों। बार्कर ने ग्रीन के अधिकारों की धारणा को व्यक्त करते हुए कहा है कि "ग्रीन जिन अधिकारों के बारे में कहता है उनका सम्बन्ध नैतिकता से है कानून से नहीं और जिस मान्यता की बात वह करता है वह भी सामान्य नैतिक चेतना के द्वारा मान्यता है न कि एक विधानमण्डल के द्वारा।"

3. राज्य की अनिवार्यता पर बल (Emphasis on the necessity of state): यद्यपि ग्रीन ने अधिकारों की मान्यता के लिए राज्य की अपेक्षा सामाजिक चेतना को महत्व दिया है लेकिन व्यक्तियों के लिए उन परिस्थितियों का निर्माण करना जिनमें वे सामाजिक चेतना द्वारा मान्यता प्राप्त अधिकारों का उपयोग कर सके, राज्य द्वारा ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त राज्य इसलिए भी आवश्यक है कि कोई भी व्यक्ति अपने अधिकारों का प्रयोग उस सीमा से अधिक न कर सके जिससे कि वह दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों के प्रयोग के मार्ग में बाधा बन जाए। इस प्रकार से राज्य की आवश्यकता न केवल अधिकारों के उपयोग को सम्भव बनाने के लिए है बल्कि इनके दुरुपयोग को रोकने के लिए भी राज्य आवश्यक है। इस प्रकार से ग्रीन का विचार है कि सामाजिक चेतना अधिकारों को जन्म देती है लेकिन उन्हें लागू करना और बनाए रखने का कार्य कानून एवं राज्य सत्ता के द्वारा ही सम्भव है। बार्कर ने ग्रीन के विचारों को प्रकट करते हुए कहा है कि-"चेतना जो अधिकारों को जन्म देती है, यही कानूनों और व्यवस्था के निमयों को जन्म देती है जिसके द्वारा अधिकारों को बनाए रखा जाता है।"

4. राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार (Views regarding the activities of state): ग्रीन के समय में यह भी एक विवादास्पद प्रश्न था कि राज्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं। जहाँ ● व्यक्तिवादियों का विचार था कि राज्य को कम से कम कार्य करने चाहिएं वहीं उपयोगितावादियों का विचार था कि राज्य को अपने नागरिकों को अधिकतम सुख प्रदान करने के उद्देश्य से कार्य करने चाहिए। दोनों ही विचारधाराओं में व्यक्ति के भौतिक विकास को फेन्द्र माना गया। ग्रीन ने राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का भौतिक ही नहीं अपितु नैतिक और आध्यात्मिक विकास भी निश्चित किया। ग्रीन का विचार है कि "राज्य का कार्य जीवन की उन परिस्थितियों को बनाए रखना है जिसमें नैतिकता सम्भव हो और नैतिकता स्वयं पर - लागू किए गये दायित्वों का निर्वाह करने में है।" (Functions of the state is to maintain the conditions of life in which morality shall be possible and morality consists in the performance of self-imposed duties. -Green)।

5. राज्य का विरोध करने के सम्बन्ध में विचार (Views regarding the right to resist the state) : ग्रीन व्यक्ति को राज्य के विरोध का सीमित अधिकार ही प्रदान करता है। ग्रीन का विचार है कि राज्य अथवा सरकार का विरोध उसी अवस्था में किया जा सकता है जब राज्य के कानूनों और सामान्य हित के मध्य विवाद उत्पन्न हो जाए। किसी भी व्यक्ति अथवा समूह को राज्य के विरोध का अधिकार इसलिए नहीं प्राप्त हो जाता कि राज्य अथवा सरकार के कानून किसी एक अथवा कुछ व्यक्तियों की इच्छा के विरुद्ध है। ग्रीन की मान्यता है कि राज्य के अस्तित्व में कुछ असुविधा सहन करना अधिक ठीक है क्योंकि यह असुविधा उस असुविधा से कम होगी जो राज्य न होने अथवा अराजकता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होगी।

6. प्राकृतिक कानून के सम्बन्ध में विचार (Views regarding Natural Law) : ग्रीन ने राज्य की अनिवार्यता को महत्व दिया है। लेकिन ग्रीन ने प्राकृतिक कानूनों के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। ग्रीन का विचार है कि- "ये वो कानून हैं जिनका पालन व्यक्ति को एक नैतिक प्राणी होने के कारण करना चाहिए फिर चाहे वे राज्य के वास्तविक कानूनों के अनुरूप हों अथवा नहीं।" ग्रीन प्राकृतिक कानूनों को जड़ नहीं अपितु प्रगतिशील मानता है। उसका विचार है कि बदलती सामाजिक परिस्थितियों के कारण प्राकृतिक कानूनों में भी परितर्वन हुआ है। ग्रीन ने बताया है कि प्राकृतिक कानून क्योंकि सामाजिक नैतिकता का विकास करते हैं और राज्य के कानून भी नैतिकता का विकास करते हैं तो दोनों कानून बाध्य हैं। इनके पीछे बाध्यकारीय शक्ति होती है।

7. प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में ग्रीन के विचार (Views regarding sovereignty): ग्रीन से पूर्व भी अनेक विचारकों ने प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। ग्रीन के विचार इस सन्दर्भ में संतुलित कहे जा सकते हैं। जहाँ उसने प्रभुसत्ता को राज्य की बाध्यकारी शक्ति के रूप में परिभाषित करके इसका समर्थन किया है और इसकी अनिवार्यता पर बल दिया है वहीं उसने हॉब्स एवं ऑस्टिन के समान प्रभुसत्ता की निरकुंश अवधारणा का विरोध किया है। ग्रीन ने राज्य की इस बाध्यकारी शक्ति का औचित्य भी प्रमाणित किया है। ग्रीन का विचार है कि प्रभुसत्ता इसलिए आवश्यक है क्योंकि यह राज्य के अस्तित्व का आधार स्तम्भहै। यद्यपि ग्रीन का कहना है कि- "राज्य का आधार भक्ति नहीं अपितु इच्छा है।" (Will, not force is the basis of the state. - Green)। ग्रीन का विचार है कि राज्य के पास ये बाध्यकारी शक्ति इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि ऐसे व्यक्तियों पर नियंत्रण लगाना होता है जो दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों के उपयोग में बाधा खड़ी कर सकते हैं।

8. दण्ड के सम्बन्ध में ग्रीन के विचार (Views regarding Punishment): नागरिकों द्वारा किए गये अपराधों के लिए दण्ड देने का प्रावधान अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसके सम्बन्ध में अनेक विचारकों ने अपने विचार दिए हैं। ग्रीन ने इस सभी विचारों को तीन भागों में बांटा है। ग्रीन के अनुसार दण्ड देने के पीछे तीन विचार कार्य करते हैं-प्रथम विचार है कि बदला लेना, दूसरा विचार है कि भय उत्पन्न करना और तृतीय विचार यह है कि सुधार करना। यद्यपि ग्रीन ने इन तीनों विचारों को अस्वीकार किया है लेकिन उनका कहना है कि दण्ड इस प्रकार से दिया जाना चाहिए जिससे अन्य नागरिकों में अपराधी को दिये दण्ड से भय उत्पन्न हो और वे अपराध करने से डरें। इसके साथ ही ग्रीन का विचार है कि बदला लेने के उद्देश्य से नहीं अपितु अपराधी को नैतिक बनाने एवं उनमें सुधार करने के उद्देश्य से दिया

जाना चाहिए। बार्कर ने ग्रीन के दण्ड सम्बन्धी विचारों को व्यक्त करते हुए कहा है कि "अप्रत्यक्षत: दण्ड इच्छा को आवश्यक रूप से सुधारने वाला हो न कि भय उत्पन्न करे जिससे कि अपराधी को अपनी आत्मा सुधारना सम्भव हो।"

9. सम्पत्ति के सम्बन्ध में विचार (Views regarding Property): ग्रीन ने सीमित रूप में ही सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन किया है। ग्रीन का विचार था कि समाज और स्वयं के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति आवश्यक है। ग्रीन ने एक सीमा तक व्यक्तिगत सम्पत्ति की असमानता को स्वीकार किया है। ग्रीन का विचार था कि राज्य को उस समय हस्तक्षेप करना चाहिए जब सम्पत्ति का अधिकार अधिक असमानता उत्पन्न कर दे जिससे कि समाज के अन्य नागरिक अपनी इच्छा और दायित्वों की पूर्ति न कर सकें। ग्रीन ने भूमि-स्वामित्व को भी अस्वीकार किया है। ग्रीन का मत था कि भूमि-स्वामित्व मेहनत का परिणाम नहीं अपितु अत्याचार, शक्ति और शोषण का परिणाम है। भूमि एक. प्राकृतिक सम्पदा है अत: भूमि-स्वामित्व का अधिकार एक सीमित मात्रा में प्रदान करके आवश्यकता से अधिक भूमि का अधिग्रहण कर लेना चाहिए।

10. युद्ध एवं विश्व-बन्धुत्व के सम्बन्ध में विचार (Views regarding war and universal brotherhood) : ग्रीन युद्ध का विरोधी और अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का समर्थक था। ग्रीन जीवन के अधिकार (Right to life) को अत्यधिक महत्व प्रदान करता था। उसके अनुसार युद्ध जीवन के अधिकार का हनन करता है अत: युद्ध का विरोध किया जाना चाहिए। ग्रीन के अनुसार युद्ध का त्याग और अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति की स्थापना तभी सम्भव है जब अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के नियमों का निर्माण किया जाए और सभी राष्ट्र इन्हें स्वीकार करें। रंग एवं जाति भेद अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का महत्वपूर्ण कारण है अत: इन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिए। राष्ट्रों को बाह्य आचरण में मर्यादित होना चाहिए। ग्रीन ने अपने विचारों से उन तकों को काटा है जिनके आधार पर हीगल ने युद्ध का समर्थन किया है। ग्रीन का विचार है कि युद्ध एक प्रकार की सामूहिक हत्या है, इसके लिए व्यक्ति उत्तरदायी होते हैं, यह जीवन के अधिकार के विरुद्ध है, युद्ध एक आदर्श नहीं अपराध है, युद्ध का कारण सरकारों में उत्तरदायित्व की कमी होता है। इस प्रकार से कहा जा सकता है कि ग्रीन युद्ध का विरोधी और विश्व-बन्धुत्व का समर्थन था।

11. आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में विचार (Views regarding spiritualism): ग्रीन को एक आदर्शवादी विचारक इसलिए कहा जाता है क्योंकि ग्रीन ने मनुष्य में उस चेतना (Consciousness) के अस्तित्व को स्वीकार किया है जो व्यक्ति में सोचने-समझने और नैतिकता की भावना का संचार करती है। इस मानवीय चेतना को ग्रीन ने आत्मा का नाम दिया है। यह आत्मा विश्व और ईश्वरीय तत्व से भी सम्बन्धित है। इसी चेतना के परिणामस्वरूप व्यक्ति में बुद्धिमता का विकास होता है। यह चेतना व्यक्ति को केवल भौतिकवाद की ओर ही प्रेरित नहीं करती अपितु उसे अपने बारे में, समाज के बारे में और सम्पूर्ण विश्व के बारे में भी सोचने के लिए प्रेरित करती है। व्यक्ति को सुख केवल भौतिकवाद से प्राप्त नहीं होता अपितु उस विचार से होता है जो उसकी चेतना में उत्पन्न होते हैं। ग्रीन के आध्यात्मिक विचारों का उद्देश्य केवल यह स्थापित करना है कि व्यक्तिगत का अस्तित्व केवल उसके स्वयं के लिए नहीं अपितु सम्पूर्ण मानवता के लिए है और यही उसमें नैतिकता का संचार करती है।

12. सामान्य इच्छा के सम्बन्ध में विचार (Views regarding general will): जिस प्रकार से ग्रीन व्यक्ति में चेतना का अस्तित्व स्वीकार करते हैं उसी प्रकार से उन्हें सामाजिक चेतना (Social Consciousness) के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है और इसे सामान्य इच्छा का नाम दिया है। ग्रीन के सामान्य इच्छा के विचारों पर रूसो का व्यापक प्रभाव पड़ा है। राज्य सामान्य इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करता है। ग्रीन ने भी रूसो के समान दो प्रकार की व्यक्तिगत इच्छाओं को माना है-

वास्तविक इच्छा (Actual Will) - यह इच्छा स्वार्थपूर्ण होती है।

यथार्थ इच्छा (Real Will) - यह इच्छा सार्वजनिक कल्याण से सम्बन्धित है। यथार्थ इच्छाओं का सामूहिक नाम ही सामान्य इच्छा है। वास्तविक इच्छा यथार्थ इच्छा के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है। राज्य सामान्य इच्छा का संरक्षक होता है। अत: राज्य का दायित्व है कि उन बाधाओं को दूर करे जो वास्तविक इच्छाओं के द्वारा यथार्थ इच्छाओं के मार्ग में उत्पन्न की जाती है।

13. राज्य और समाज के सम्बन्ध में विचार (Views regarding the relationship between state and society): ग्रीन ने राज्य और समाज को परस्पर विरोधी नहीं बल्कि एक दूसरे का पूरक माना है। उसके अनुसार राज्य समाजों का समाज है। राज्य के अन्दर अनेक प्रकार के विरोधी हितों के लोगों के समूह का अस्तित्व पाया जाता है, राज्य इन सभी समूहों में समन्वय स्थापित करना है जिस प्रकार से व्यक्ति समाज की इकाई है, उसी प्रकार से विभिन्न समाज राज्य की इकाई है। यद्यपि राज्य में विरोधी हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले समाजों का अस्तित्व पाया जाता है लेकिन राज्य का उद्देश्य इनके मध्य सामंजस्य स्थापित करना होता है।

आलोचना (Criticism) - ग्रीन का राजनीतिक चिन्तन जर्मन आदर्शवाद और ब्रिटिश उदारवाद का समन्वय है, क्योंकि एक ओर तो वह

जर्मन आदर्शवादी विद्वान् हीगल की इस मान्यता को स्वीकार करता है कि विश्व का आधार दैवीय चेतना या शाश्वत चेतना है जो अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए निरन्तर प्रयासरत रहती है और दूसरी ओर व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति उसे गहरा अनुराग है। इन दोनों परस्पर-विरोधी विचारधाराओं में ताल-मेल बिठाने के प्रयास के कारण ही उसके चिन्तन में अनेक दोष आ गए हैं, जिनके आधार पर इसकी निम्नलिखित आलोचनाएँ की गयी हैं।

1. मानव स्वभाव का एकांगी चित्रण (Unilateral Description of Human Nature) -ग्रीन मानव को शाश्वत चेतना का एक अंग बताते हुए उसके स्वभाव का एकांगी चित्रण प्रस्तुत करता है। उसकी घारणा है कि मनुष्य प्रत्येक कार्य नैतिक विकास तथा सामाजिक हित को ध्यान में रखकर करता है। निःसन्देह मानव स्वभाव के विषय में उसका चित्रण एकांगी है, क्योंकि मनुष्य में नैतिक तत्त्वों के साथ-साथ अनैतिक तत्त्व यथा काम-क्रोध, छल-कपट आदि भी होते हैं। वह इन तत्त्वों उपेक्षा करता है।

2. राज्य के कार्यों के विषय में स्पष्टता का अभाव (Lack of Clarity regarding the Functions of State)- ग्रीन राज्य के कार्यों के विषय में नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। उसके अनुसार राज्य का कार्य व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक विकास के मार्ग में आयी बाधाओं के लिए बाधा बनना है। राज्य के कार्यों के विषय में वह सकारात्मक दृष्टिकोण नहीं अपनाता है, वह कहता है कि राज्य व्यक्ति का नैतिक विकास नहीं कर सकता है, क्योंकि नैतिकता का संबंध व्यक्ति की अंतर्रात्मा से होता है। लेकिन राज्य के नकारात्मक कार्य गहराई से देखने पर सकारात्मक भी हो सकते हैं। जैसे व्यक्ति के नैतिक विकास में अशिक्षा एक बाधा है, जिसे राज्य स्कूल व कॉलेज खोलकर दूर कर सकता है। निःसन्देह यह कार्य सकारात्मक है।

3. सम्प्रभुता की असंतोषजनक अवधारणा (Unsatisfactory Concept of Sovereignty)-ग्रीन की सम्प्रभुता की अवधारणा संतोषजनक नहीं है, क्योंकि वह रूसो और ऑस्टिन की सम्प्रभुता-विषयक धारणाओं में ठीक से ताल-मेल नहीं बैठा पाया है। सम्प्रभुता को राज्य की सर्वोच्च शक्ति तब ही माना जा सकता है, जब इसका समर्थन सामान्य इच्छा के द्वारा किया जाए, किन्तु सामान्य इच्छा-संबंधी जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं, उनका समाधान वह नहीं करता है।

4. सम्पत्ति विषयक दोषपूर्ण विचार (Unsound Ideas regarding Property)- ग्रीन के सम्पत्ति विषयक विचारों में भी अस्पष्टता है, क्योंकि एक ओर तो वह भू-सम्पत्ति को समाप्त करना चाहता है, क्योंकि इसे वह अत्याचार, शक्ति और शोषण का फल मानता है और दूसरी ओर वह व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन भी करता है और यहाँ तक कि वह आर्थिक विषमता को भी समाज के लिए उपयोगी मानता है।

5. राज्य के विरोध का अधिकार वास्तविक नहीं (Unrealistic Right to Resist State) -ग्रीन के मतानुसार व्यक्ति राज्य का विरोध कर सकता है, यदि वह यह अनुभव करें कि राज्य सामाजिक हित में कार्य नहीं कर रहा है, किन्तु वह व्यक्ति के इस अधिकार पर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा देता है कि यह अधिकार अर्थहीन हो जाता है। वस्तुतः वह व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार ही नहीं देता है।

6. निरंकुशता का समर्थन (Support to Absolutism)- ग्रीन व्यक्ति को राज्य के विरोध का जो अधिकार प्रदान करता है, वह न होने के बराबर ही है, जिसके परिणामस्वरूप राज्य की शक्तियों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रह जाता है और राज्य के निरंकुश होने की सम्भावना बढ़ जाती है। हाब्सहाउस का मत है, "उसके दर्शन में स्वेच्छाचारी शासन के बीच निहित हैं, क्योंकि उसके दर्शन में ऐसे कोई नियंत्रक तत्त्व वियमान् नहीं हैं, जो शासन की निरंकुश प्रवृत्ति को बढ़ने से रोकते हैं।"

7. प्राकृतिक कानूनों की अवधारणा अस्पष्ट (Ambiguous Concept of Natural Laws) -ग्रीन के प्राकृतिक कानूम-संबंधी विचार भी अस्पष्ट है, क्योंकिं एक ओर तो यह इनके अस्तित्त्व और महत्त्व को स्वीकार करता है और दूसरी ओर वह यह भी मानता है कि इनमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। वह यह स्पष्ट नहीं करता कि इन कानूनों की व्याख्या करने का अधिकार किसे है।

8. अत्यधिक बुद्धिवादी (Over Rationalist)- ग्रीन अत्यधिक बुद्धिवादी है और इसी दृष्टिकोण से वह समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास करता है। वह यह मानता है कि व्यक्ति अपने सभी कार्य विवेकपूर्ण ' ढंग से करता है, जब कि व्यक्ति अधिकांश कार्य अपने अचेतन (Sub-concious) मन से करता है। ग्रीन ने इस तत्त्व की उपेक्षा की है, इसीलिए उसका चिंतन अव्यावहारिक हो जाता है।

निष्कर्ष (Conclusion) - ग्रीन के राजनीतिक चिंतन में निहित दोषों के कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसका चिन्तन महत्त्वहीन है, लेकिन इन दोषों के बावजूद भी उसका चिन्तन काफी उपयोगी और सारगर्भित है। उसके चिंतन की एक विशिष्टता यह है कि उसने जर्मन

आदर्शवाद की उग्रता को कम करके ब्रिटिश उदारवाद के साथ इसका सामंजस्य कायम किया है। इसी आधार पर वह पश्चिमी राजनीतिक चिंतन के इतिहास में अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाने में सफल रहा है।

Q. अधिकार एवं स्वतंत्रता पर ग्रीन के विचारों का विवेचन कीजिए। (Discuss Green's views on Rights and Freedom.)

उत्तर-स्वतंत्रता ग्रीन के राजनीतिक चिंतन का केन्द्र-बिन्दु है। वह रूसो और कॉण्ट की तरह अपने राजनीतिक चिंतन का प्रारम्भ स्वतंत्रता से करता है। आदर्शवादी विचारक होने के नाते ग्रीन स्वतंत्रता को शाश्वत चेतना (Eternal Conciousness) और उसके अंश मानव चेतना का गुण मानता है। अतः स्वतंत्रता मनुष्यता का एक आवश्यक तत्त्व और प्राण है। यह स्वतंत्रता ही अधिकारों को जन्म देती है और राज्य इन अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करता है। **ग्रीन के स्वतंत्रता के इस विचार को स्पष्ट करते हुए बार्कर ने लिखा है, "मानवीय चेतना स्वतंत्रता चाहती है, स्वतंत्रता में अधिकार निहित है और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।"** ग्रीन द्वारा प्रतिपादित स्वतंत्रता के बारे में लिखे इस कथन से स्पष्ट है कि स्वतंत्रता और अधिकारों में गहन संबंध है। अधिकार वे बाह्य परिस्थितियाँ हैं, जिनमें रहकर व्यक्ति अपना आत्म-विकास कर सकता है। इन परिस्थितियों का उपयोग करते हुए मानव आत्मा पूर्णता को प्राप्त करती है और शाश्वत चेतना से एकाकार हो जाती है। ग्रीन स्वतंत्रता को मानव के लिए एक वरदान मानता है।

स्वतंत्रता की अवधारणा (Concept of Freedom)-ग्रीन की स्वतंत्रता की अवधारणा उन व्यक्तिवादी विचारकों की स्वतन्त्रता-विषयक अवधारणा से भिन्न है, जो प्रतिबन्धों के अभाव को स्वतंत्रता कहते हैं। दूसरे शब्दों में, ग्रीन स्वतंत्रता की नकारात्मक अवधारणा का नहीं, बल्कि सकारात्मक अवधारणा का समर्थन करता है। उसके अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ मनमानी करना नहीं है, क्योंकि मनमानी करने की छूट के कारण स्वतन्त्रता स्वछंदता में बदल जाती है। स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए वह **लिखता है, "स्वतंत्रता उन कार्यों को करने की या उन सुविधाओं के उपभोग करने की, जो करने और उपभोग करने योग्य है, सकारात्मक शक्ति या क्षमता है और वह भी ऐसे कार्यों को करना या वस्तुओं का उपभोग करना जिसको हम दूसरों के साथ सामूहिक रूप से करते या उपभोग करते हैं।"** बार्कर के मतानुसार ग्रीन की स्वतंत्रता, संबंधी अवधारणा की दो विशेषताएँ हैं। प्रथम, स्वतंत्रता सकारात्मक (Positive) होती है अर्थात् स्वतंत्रता का अभिप्रायः व्यक्ति को कुछ कार्य करने का अधिकार देना है; न कि उसको किसी कार्य करने से रोकना है। द्वितीय, स्वतंत्रता का रूप निश्चयात्मक (Determinate) है अर्थात् व्यक्ति द्वारा केवल ऐसे कार्यों का किया जाना, जो करने योग्य हैं, न कि हर प्रकार के कार्यों का किया जाना।

स्पष्ट है कि ग्रीन के अनुसार, व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की छूट देना स्वतंत्रता नहीं है। शराब पीना और जुआ खेलना व्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं हो सकती है, जैसा कि मिल मानता है। ग्रीन इस प्रकार की स्वतंत्रता का समर्थन नहीं करता है। उसकी धारणा है कि शाश्वत चेतना का अंश होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति का प्रमुख लक्ष्य आत्म-विकास करना है। अतः उसे केवल उन्हीं कार्यों को करने की स्वतंत्रता दी जानी चाहिए, जिनसे कि उसका आत्म-विकास होता हो। जुआ खेलने और शराब पीने से उसका आत्म-विकास अवरुद्ध हो जाता है, अतः व्यक्ति को इन कार्यों को करने की स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती है।

ग्रीन ने **स्वतंत्रता के दो प्रकार बताए हैं-आंतरिक स्वतंत्रता और बाह्य स्वतंत्रता।** आंतरिक स्वतंत्रता से उसका अभिप्रायः है-मनुष्य द्वारा विषय-वासनाओं और बुरी मनोवृत्तियों से मुक्ति पाना। इस प्रकार की स्वतंत्रता का संबंध मनुष्य की अन्तर्रात्मा से होता है, अतः यह आचार-शास्त्र का विषय है; राजनीति शास्त्र का नहीं। इसके विपरीत, बाह्य स्वतंत्रता से उसका अभिप्रायः ऐसी बाह्य परिस्थितियों के सृजन से है, जिनके अन्तर्गत व्यक्ति अपना आत्म-विकास कर सके। इन बाह्य परिस्थितियों का नाम ही अधिकार है। ये परिस्थितियाँ कायम रहें, इसके लिए राज्य की आवश्यकता होती है। वस्तुतः राज्य ही इनको सुरक्षा प्रदान करता है, अतः बाह्य त्वतंत्रता राजनीति शास्त्र का विषय चन जाती है।

स्पष्ट है कि ग्रीन की स्वतंत्रता की धारणा उन व्यक्तिवादियों की धारणा से एकदम भिन्न है, जो बन्धनों के अभाव को स्वतंत्रता का नाम देते हैं। उसकी स्वतंत्रता की अवधारणा हीगल की अवधारणा से मेल खाती है, क्योंकि हीगल एवं ग्रीन दोनों ही व्यक्ति को सच्चे रूप में तव ही स्वतंत्र मानते हैं, जब वह शाश्वत चेतना के साथ अपना तादात्मय स्थापित कर लेता है और उसके साथ एकाकार हो जाता है, लेकिन जब हीगल इससे आगे बढ़कर यह कहता है कि स्वतंत्रता राज्य की आज्ञा का पूर्णतः पालन करने में निहित है, तो ग्रीन पीछे हट जाता है, क्योंकि उसकी मान्यता है कि ऐसा होना एक आदर्श राज्य में ही सम्भव है; यथार्थ राज्य में नहीं। उसके मतानुसार जब राज्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है, तो उसके कानून व्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लंघन करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में भी हीगल व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार नहीं देता है, जब कि ग्रीन ऐसी स्थिति में व्यक्ति को राज्य के कानूनों की जवज्ञा करने का अधिकार देता है।

ग्रीन कॉण्ट से स्वतंत्रता का नैतिक स्वरूप ग्रहण करता है और हीगल से व्यक्ति का शाश्वत चेतना से एकाकार होने का तत्व और इन दोनों का समन्वय करके वह स्वतंत्रता की अपनी अवधारणा विकसित कर देता है, जो कॉण्ट और हीगल दोनों की अवधारणाओं से अधिक उत्तम

और अधिक सार्थक बन जाती है।

ग्रीन की स्वतंत्रता की इस अवधारणा का विश्लेषण करने से इसकी निम्नलिखित **विशेषताएँ** स्पष्ट होती हैं-

1. स्वतंत्रता सकारात्मक शक्ति अथवा योग्यता होती है। ग्रीन के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ न तो प्रतिबन्धों का अभाव है और न ही किसी भी कार्य करने की सुविधा है। स्वतंत्रता से उसका अभिप्रायः उन्हीं कार्यों को करने से है, जो करने योग्य हैं या उन्हीं वस्तुओं का उपभोग करने की सुविधा से है, जो उपभोग करने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त, इसमें वे ही कार्य शामिल हैं, जिन्हें राज्य के अन्य नागरिक भी करते हों। इस प्रकार स्वतंत्रता में वैयक्तिक कल्याण और सामूहिक कल्याण दोनों ही शामिल हो जाते हैं।

2. ग्रीन स्वतंत्रता को दो भागों में विभक्त करता है-आन्तरिक स्वतंत्रता एवं बाह्य स्वतंत्रता। आन्तरिक स्वतंत्रता से उसका अभिप्रायः मनुष्य द्वारा विषय-वासनाओं और बुरी मनोवृत्तियों पर नियंत्रण लगाने से है। इस स्वतंत्रता का संबंध मनुष्य की अन्तर्रात्मा से है, इसीलिए यह आचार शास्त्र का विषव है। बाह्य स्वतंत्रता से उसका अभिप्रायः उन बाह्य परिस्थितियों के कायम किए जाने से है, जिनमें रहकर व्यक्ति अपना आत्म-विकास कर सकता है।

3. स्वतंत्रता से ग्रीन का अभिप्रायः उन कार्यों के किए जाने से नहीं है, जिनसे व्यक्ति की निजी संतुष्टि होती है और जिनसे उसके व्यक्तिगत हितों की पूर्ति होती है, बल्कि उन कार्यों के किए जाने से भी है, जिनसे सामाजिक हित की पूर्ति होती हो। इस प्रकार स्वतंत्रता की अवधारणा में व्यक्तिगत हित के साथ-साथ सामाजिक हित भी शामिल हो जाता है।

4. स्वतंत्रता का संबंध मानव चेतना से होता है, जो स्वयं शाश्वत चेतना का एक अंश होती है। ग्रीन की धारणा है कि मानव चेतना स्वतंत्रता चाहती है अर्थात् यह ऐसी बाह्य परिस्थितियों की माँग करती है, जिसमें रहकर व्यक्ति का आत्म-विकास हो सके और वह शाश्वत चेतना से तादात्मय स्थापित करके पूर्णता को प्राप्त कर सके। इस प्रकार ग्रीन के मतानुसार स्वतंत्रता का संबंध मानव चेतना से है।

5. अधिकारों के बिना स्वतंत्रता सम्भव नहीं है अर्थात् स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए ऐसी बाह्य परिस्थितियों का होना आवश्यक है, जिनके अन्तर्गत व्यक्ति उन कार्यों को कर सके या उन वस्तुओं का उपभोग कर सके, जिनसे उसका नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता हो। वस्तुतः ये बाह्य परिस्थितियाँ ही अधिकार हैं, जिनकी सुरक्षा करते हुए राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करता है।

6. राज्य के अंदर रहते हुए ही व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है, क्योंकि स्वतंत्रता के लिए, अधिकारों का होना और अधिकारों के लिए राज्य का होना आवश्यक है। ग्रीन के मतानुसार राज्य-विहीन समाज में व्यक्ति स्वतंत्र नहीं रह सकता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति अपने स्वतंत्रता के अधिकार का दुरुपयोग करके दूसरे की स्वतंत्रता का हनन कर सकता है।

7. ग्रीन के स्वतंत्रता के सिद्धान्त पर हीगल और कॉण्ट दोनों का प्रभाव देखने को मिलता है। ग्रीन हीगल से शाश्वत चेतना का विचार ग्रहण करता है, तो कॉण्ट से नैतिकता का विचार और इन दोनों का समन्वय करके स्वतंत्रता की अपनी अवधारणा प्रस्तुत करता है, लेकिन उसकी स्वतंत्रता की अवधारणा इन दोनों आदर्शवादी विचारकों की अवधारणाओं से भिन्न है, क्योंकि जब हीगल स्वतंत्रता को राज्य की अक्षरक्षः आज्ञा-पालन से जोड़ देता है, तो ग्रीन इससे असहमति प्रकट करता है। इसी प्रकार ग्रीन कॉण्ट की इस धारणा से तो सहमत है कि स्वतंत्रता नैतिक कार्यों को करने में है, लेकिन कॉण्ट व्यक्ति की नैतिकता को समाज से नहीं जोड़ता है, जब कि ग्रीन स्वतंत्रता को समाज के साथ संलग्न कर देता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ग्रीन की स्वतंत्रता की अवधारणा सकारात्मक है और इसमें वह कॉण्ट और हीगल की स्वतंत्रता की अवधारणाओं से प्रेरणा लेते हुए दोनों का समन्वय कर देता है। इस प्रकार उसकी स्वतंत्रता की अवधारणा इन दोनों की अवधारणाओं से उत्तम और सार्थक बन जाती है।

अधिकारों की अवधारणा (Concept of Rights)-ग्रीन के अधिकारों की अवधारणा उसकी स्वतंत्रता की अवधारणा से जुड़ी है, क्योंकि स्वतंत्रता में अधिकार शामिल होते हैं। ग्रीन लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा से सहमत नहीं है। उसके अनुसार अधिकार एक राजनीतिक समाज में ही कायम रह सकते हैं, इसीलिए प्राकृतिक अवस्था में, जब कि राजनीतिक समाज का अस्तित्त्व ही नहीं था, किन्हीं अधिकारों की कल्पना नहीं की जा सकती है। **अधिकारों को पारिभाषित करते हुए वह लिखता है, "अधिकार अपने नैतिक विकास के लिए समाज से की जाने वाली आवश्यक बाह्य परिस्थितियों की माँग है, जिन्हें समाज लोक-कल्याण के लिए आवश्यक मानते हुए स्वीकार करता है और व्यक्ति को प्रदान करता है।"** ग्रीन के अधिकारों की इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि अधिकारों के दो पक्ष होते हैं-वैयक्तिक पक्ष और सामाजिक पक्ष। वैयक्तिक पक्ष के अन्तर्गत अधिकार व्यक्ति द्वारा अपने नैतिक विकास के लिए समाज से की

गयी माँगें हैं, जब कि सामाजिक पक्ष के अन्तर्गत व्यक्ति की इस माँग को लोक कल्याणकारी मानकर ही समाज इसे अपनी स्वीकृति प्रदान करता है। ग्रीन की अधिकारों की उपुर्यक्त परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह प्राकृतिक अधिकारों को मान्यता नहीं देता है। इन्हें वह कल्पना जगत की वस्तु और व्यर्थ का प्रलाप मानता है।

इस प्रकार अधिकार, चाहे नैतिक हों या कानूनी, तब ही अधिकार कहलाते हैं, जब इन्हें लागू किया जाता है। इसके लिए राज्य का होना आवश्यक है। बिना राज्य के न तो अधिकारों की कल्पना की जा सकती है और न ही इनके सदुपयोग की आशा की जा सकती है। अतः अधिकारों के हनन् को रोकने के लिए एक ऐसी संस्था की आवश्यकता होती है, जो यह देखे कि व्यक्ति अपने अधिकारों का सदुपयोग कर रहा है या फिर दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों का हनन् कर रहा है। यह संस्था और कोई नहीं, राज्य ही है। इस प्रकार अधिकारों के संरक्षण के लिए राज्य की आवश्यकता होती है, क्योंकि राज्य अधिकारों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देता है। ग्रीन के अनुसार यदि राज्य नहीं होगा, तो व्यक्ति की स्वतंत्रता स्वछंदता में बदल जाएगी और तब कोई भी व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग नहीं कर पायेगा।

राज्य की अनिवार्यता को स्वीकार करने के बाद भी ग्रीन हीगल की तरह व्यक्ति को राज्य की आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य नहीं करता है, बल्कि वह कुछ विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति को राज्य की आज्ञा का उल्लंघन करने का अधिकार प्रदान करता है। यद्यपि यह अधिकार बहुत सीमित है, फिर भी, आवश्यकता पड़ने पर व्यक्ति अपने इस अधिकार का प्रयोग कर सकता है।

ग्रीन की अधिकार विषयक अवधारणा को निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है-

1. अधिकार प्राकृतिक नहीं (Rights are not Natural)-ग्रीन समझौतावादी विचारकों द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन नहीं करता है। उसकी मान्यता है कि समझौतावादियों की यह धारणा ठीक नहीं है कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में अकेला रहता था और अपने अधिकारों का उपभोग करता था, क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और आदिकाल से ही वह समाज में रहता आया है। ग्रीन के अनुसार अधिकारों के लिए समाज की स्वीकृति या मान्यता आवश्यक है। अतः जब व्यक्ति समाज-विहीन प्राकृतिक अवस्था में अकेला रहता था, तो समाज की स्वीकृति का प्रश्न ही नहीं होता। इस प्रकार ग्रीन के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था में किन्हीं अधिकारों की कल्पना ही नहीं की जा सकती हैं

2. अधिकारों को सामाजिक मान्यता (Social Recognition to Rights)-ग्रीन की धारणा के अनुसार अधिकारों का आधार राज्य के कानून या विधानमण्डल नहीं है, बल्कि सामाजिक मान्यता है। उसका विचार है कि अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। एक व्यक्ति अपने अधिकारों का प्रयोग तब ही कर सकता है, जब दूसरे लोग उसके अधिकारों को मान्यता देते हों। ऐसा इसलिए होता है कि दूसरे व्यक्तियों को भी अधिकार प्राप्त होते हैं और वे भी चाहते हैं कि उनके अधिकारों का हनन् किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए व्यक्ति के अधिकार वे ही हो सकते हैं, जिन्हें समाज मान्यता देता है और समाज केवल उन्हीं अधिकारों को मान्यता देता है, जो लोक-कल्याणकारी होते हैं।

4. अधिकारों को कानूनी मान्यता (Legal Recognition to Rights)-ग्रीन के अधिकारों की अवधारणा की जड़े नैतिकता में खोजी जा सकती हैं, क्योंकि वह अधिकारों को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए अपरिहार्य मानता है। इसीलिए वार्कर ने भी यह माना है कि ग्रीन जिन अधिकारों की बात करता है, उनका संबंध कानून की अपेक्षा नैतिकता से है। लेकिन इसका यह अभिप्रायः नहीं है कि अधिकारों का कानून से कोई संबंध ही नहीं है। ग्रीन कहता है कि अधिकारों को मान्यता समाज ही देता है, लेकिन इन्हें लागू किए जाने की व्यवस्था राज्य कानून बनाकर करता है। उसका कहना है कि समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक अधिकारों को कानूनी रूप देकर क्रियान्वित किया जाता है और कानून द्वारा इनके दुरुपयोग पर रोक लगायी जाती है और इनका उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है।

5. अधिकारों के विषय में राज्य की भूमिका (Role of State regarding Rights)-ग्रीन के मतानुसार अधिकारों की सृष्टि मानवीय चेतना के कारण होती है और समाज इन अधिकारों को अपनी स्वीकृति प्रदान करता है। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि अधिकारों को मान्यता देने का प्रश्न समाज से जुड़ा है; राज्य से नहीं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य का अधिकारों से कोई संबंध ही नहीं है। वस्तुतः राज्य ही अधिकारों को लागू करता है और वही इनको सुरक्षा भी प्रदान करता है। इस प्रकार अधिकारों के अस्तित्त्व के लिए राज्य का होना आवश्यक है, क्योंकि राज्य ही उन व्यक्तियों के आचरण पर प्रतिबन्ध लगाता है, जो दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों के मार्ग में बाधा बन जाते हैं। ग्रीन के चिंतन का आरम्भ मानवीय चेतना से होता है और अन्त राज्य की ऐसी शक्ति के रूप में, जो इसे सम्भव बनाती है।

6. राज्य के विरोध का अधिकार (Right to Resist State)- ग्रीन व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार देता है, लेकिन व्यक्ति अपने इस अधिकार का प्रयोग कुछ विशेष परिस्थितियों में ही कर सकता है। वह कहता है कि जब व्यक्ति यह अनुभव करे कि राज्य

सामाजिक कल्याण में वृद्धि नहीं कर रहा है और शासक वर्ग भ्रष्ट हो गया है, तो वह राज्य का विरोध कर सकता है। किन्तु ऐसी स्थिति में भी इस अधिकार का प्रयोग सोच-समझकर ही किया जाना चाहिए, क्योंकि इससे समाधान के स्थान पर समस्या जटिल भी हो सकती है।

7. सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता (Recognition to Right to Property)- ग्रीन सम्पत्ति के वैयक्तिक स्वामित्व को स्वीकार करता है। उसकी राय में स्वयं के और समाज के प्रति अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए निजी सम्पत्ति आवश्यक होती है। एक सीमा तक वह निजी सम्पत्ति से उत्पन्न आर्थिक विषमता को भी स्वीकार करता है, लेकिन जब सम्पत्ति के अधिकार के कारण व्यापक आर्थिक विषमता कायम हो जाए, तो वह इसमें राज्य को हस्तक्षेप करने का अधिकार भी देता है। इस प्रकार वह सीमित सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन करता है।

आलोचना (Criticism)- ग्रीन की अधिकार-विषयक अवधारणा दोष-मुक्त नहीं है। इसमें अनेक दोष हैं, जिनके आधार पर इसकी निम्नलिखित आलोचनाएँ की गयी हैं-

1. राज्य के विरोध का विरोधाभासी अधिकार (Paradoxical Right to Resist State)- ग्रीन मूलतः एक आदर्शवादी विचारक है। इसी नाते वह व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार तो देता है, लेकिन इस अधिकार पर वह इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा देता है कि वह इसे निरर्थक बना देता है। वह एक ओर व्यक्ति को यह अधिकार देना और दूसरी ओर इस पर अनेक प्रतिबन्ध लगा देना एक विरोधाभासी स्थिति है।

2. अस्पष्टता (Ambiguity)-ग्रीन के अधिकारों का सिद्धान्त स्पष्ट नहीं है। वह एक ओर प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन करता है और दूसरी ओर वह इन्हें नैतिक अधिकार मानता है और इनके नैतिक स्वरूप का समर्थन करते हुए इन्हें प्राकृतिक घोषित करता है। इस प्रकार वह प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को जटिल बना देता है।

3. विरोधाभासी सिद्धान्त (Paradoxical Theory)- ग्रीन की पारणा में प्राकृतिक और नैतिक अधिकारों के मध्य कोई अन्तर नहीं है। उसके मतानुसार प्राकृतिक या नैतिक अधिकार मानव की उस मौलिक नैतिक प्रकृति में निहित हैं, जिसके अनुसार वह एक सामाजिक प्राणी के रूप में किसी-न-किसी तरह के सामाजिक जीवन में संगठित होकर रहता है। ग्रीन प्राकृतिक या नैतिक (आदर्श) अधिकारों के बारे में अपनी धारणा व्यक्त करता है, किन्तु वह कानूनी अधिकारों की धारणा को भी अमान्य नहीं ठहराता है। उसके अधिकार-विषयक सिद्धान्त में यह प्रमुख दोष हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)-यद्यपि ग्रीन के अधिकार विषय-सिद्धान्त में कई दोष हैं, फिर भी उसका अधिकार विषयक सिद्धान्त इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उसने अपने समय में प्रचलित उन प्राकृतिक अधिकारो को स्वीकृत नहीं किया, जो अनेक समस्याएँ पैदा कर रहे थे। वस्तुतः ग्रीन ही ऐसा विचारक है, जिसने अधिकारों और राज्य के बीच के संबंध को सुस्पष्ट किया है।

Unit-IV

कार्ल मार्क्स (Karl Marx)

Q. राज्य की मार्क्सवादी धारणा के विषय में लेख लिखिए। (Write a note on the Marxist notion of the State)

उत्तर- कार्ल मार्क्स के राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त की विवेचना निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है-

1. राज्य की उत्पत्ति (Origin of State)- माक्र्स राज्य की उत्पत्ति की एक नवीन एवं पृथक् धारणा प्रस्तुत करता है। वह राज्य की उत्पत्ति -सम्बन्धी दैवीय सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं; इसीलिए वह राज्य को ईश्वर द्वारा निर्मित संस्था नहीं मानता है। इसी प्रकार वह यह भी स्वीकार नहीं करता है कि राज्य मनुष्यों द्वारा किए गए किसी सामाजिक संविदा की उपज है, जैसा कि हॉब्स, लॉक और रूसो मानते हैं। राज्य की उत्पत्ति के विषय में इसके विचार इन सभी विद्वानों से पृथक् हैं। उसका कहना है कि आदिम साम्यवादी युग में राज्य का कोई अस्तित्त्व न था, क्योंकि इस युग में समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था विकसित नहीं हुयी थी, जिसके परिणामस्वरूप समाज धनी और निर्धन वर्गों में विभक्त न था। इसीलिए समाज में किसी तरह का वर्ग-संघर्ष देखने को नहीं मिलता, क्योंकि एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण नहीं करता था। किन्तु जैसे-जैसे सामाजिक विकास के नियम के अन्तर्गत यह युग समाप्त हुआ और इसकी जगह दास युग अस्तित्व में आया, समाज स्वामी एवं दास नामक दो वर्गों में विभक्त हो गया। इस अवस्था में स्वामियों का समस्त उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण हो गया और दास इनसे

पूर्णतया वंचित हो गए। अब स्वामी दासों का शोषण करने लगे। इस वर्ग-विभाजन के परिणामस्वरूप समाज के मामलों का प्रबन्ध करने के तौर-तरीकों में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया, क्योंकि अब यह सम्भव नहीं रह गया था कि सम्पूर्ण समाज सर्व-सम्मति से यह कार्य कर सके। इस युग में अपनी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति के कारण सम्पत्ति वाले स्वामी वर्ग की समाज में प्रधानता कायम हो गयी थी। क्योंकि इस वर्ग की संख्या बहुत कम थी, अतः अपनी प्रधानता की स्थिति को कायम रखने कि लिए इसे शक्ति का सहारा लेना पड़ा और इसे एक ऐसी संस्था की स्थापना करनी पड़ी, जो इसकी सम्पत्ति और अधिकारों को सुरक्षा प्रदान कर सके। यही कारण है कि इस वर्ग ने सेना, पुलिस, न्यायालय एवं कारागार आदि की स्थापना की। इन संस्थाओं पर उसी स्वामी वर्ग का नियंत्रण था, जो दास वर्ग का शोषण करता था। वस्तुतः यहीं से राज्य नामक संस्था का सूत्र-पात्र हुआ। संक्षेप में, राज्य की उत्पत्ति उसी समय हुयी, जब समाज स्वामी और दास नामक वर्गों में विभक्त हुआ और स्वामी वर्ग ने दास वर्ग का शोषण प्रारम्भ किया।

2. राज्य की प्रकृति (Nature of State)- मार्क्स राज्य को एक संगठन मानता है, जिसके माध्यम से धनी वर्ग निर्धन वर्ग का शोषण करता है। मार्क्स के अपने शब्दों में, "**एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के दमन के लिए, राज्य मशीन से अधिक कुछ नहीं है।" वह कहता है कि प्राचीन समय में राज्य के द्वारा स्वामी लोग गुलामों को अपने अधीन रखते थे और उनका शोषण किया करते हैं। तत्पश्चात् सामन्तवादी युग में सामन्तवर्ग मजदूरों और किसानों का शोषण करते थे और वर्तमान समय में पूँजीपति वर्ग राज्य के सहारे श्रमिक वर्ग का शोषण करता है। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार राज्य न तो नैतिक संस्था है, न आवश्यक बुराई और न ही अनावश्यक बुराई, बल्कि इन सबसे पृथक् राज्य एक वर्गीय संस्था है। यह एक ऐसा यन्त्र है, जिसके द्वारा धनिक वर्ग निर्धन वर्ग का शोषण एवं दमन करता है।**

3. राज्य का उद्देश्य (Objective of State)-मार्क्स, अरस्तू के इस विचार से सहमत नहीं है कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन को उत्तम बनाना है। उसके अनुसार राज्य का कोई पवित्र उद्देश्य नहीं है, बल्कि इसका उद्देश्य उस धनिक वर्ग के हितों की पूर्ति करना है, जिसका इस पर नियन्त्रण होता है। मार्क्स तो यहाँ तक मानता है कि लोकतान्त्रिक शासन में भी राज्य-सत्ता पर सम्पूर्ण जनता का नियन्त्रण नहीं, बल्कि धनिक वर्ग का ही नियन्त्रण होता है। यही कारण है कि लोकतन्त्र में प्रतिनिधि संस्थाएँ ऐसे कानूनों का निर्माण करती हैं। जिनसे धनिक वर्ग के हितों की पूर्ति होती हो और जिनसे क्रान्ति को रोका जा सके, जिससे कि यथा-स्थिति बनी रहें और धनिक वर्ग श्रमिक वर्ग का लगातार शोषण करता रहे।

4. राज्य की समाप्ति (Abolition of State)-मार्क्स के अनुसार राज्य एक वर्गीय संगठन है-एक ऐसा संगठन जिस पर केवल धनिक वर्ग का नियन्त्रण होता है और जो इसका प्रयोग श्रमिकों का शोषण और दमन करने के लिए करता है। इसीलिए मार्क्स इसे समाप्त करके एक राज्यविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, किन्तु सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के दौरान वह राज्य को कायम रखना चाहता है, जिससे कि सर्वहारा वर्ग इसकी सहायता से निजी सम्पत्ति, पूँजीपतियों तथा क्रान्ति-विरोधी तत्त्वों का सफाया कर सके। इसके पश्चात् तो समाज में एक ही वर्ग रह जाएगा और इस नाते राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी और यह स्वतः ही विलुप्त हो जाएगा। वस्तुतः एक वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज की स्थापना करना ही मार्क्स का अन्तिम लक्ष्य है और यही सच्ची साम्यवादी व्यवस्था है।

राज्य-सम्बन्धी अवधारणा के निहितार्थ (Implications of the Concept of State)-मार्क्स की राज्य-सम्बन्धी अवधारणा या सिद्धान्त के कुछ निहितार्थ हैं, जिनकी यहाँ विवेचना करना आवश्यक है-

1. मार्क्स के राज्य के सिद्धान्त का वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त से निकट का सम्बन्ध है। उसके अनुसार राज्य वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति है। लेनिन के शब्दों में, "कहाँ, कब और किस सीमा तक राज्य उत्पन्न होता है, यह प्रत्यक्ष रूप से इस बात पर निर्भर करता है कि कब, कहाँ और किस सीमा तक किसी निश्चित समाज में वर्ग-विरोध में सामंजस्य कायम नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत, राज्य का अस्तित्त्व यह सिद्ध करता है कि वर्ग-विरोधों में कभी सामंजस्य नहीं हो सकता है।"

2. मार्क्स के इस सिद्धान्त का एक निहितार्थ यह है कि श्रमिकों की वर्तमान पूँजीवादी राज्य में कोई आस्था नहीं होती, क्योंकि एक ऐसे राज्य में उनकी आस्था होना, जिसके माध्यम से पूँजीपति वर्ग उन का शोषण करता है, का अर्थ होगा स्वयं का शोषण करने वाली और पीड़ा देने वाली संस्था में आस्था। अतः श्रमिकों ऐसी संस्था के प्रति न केवल विरोध का रवैया, अपनाना चाहिए, बल्कि इसे नष्ट करके स्वयं को इसके चंगुल से मुक्त करने का प्रयास करना चाहिए।

3. मार्क्स का राज्य-विषयक सिद्धान्त राज्य के दमनकारी स्वरूप पर प्रकाश डालता है। उसके अनुसार राज्य का मूल उद्देश्य वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था, उसके वर्ग-विभेद और पूँजीपति वर्ग के विशेषाधिकारों को कायम रखना है; न कि सामान्य हितों की वृद्धि करना या व्यक्ति के आत्म-विकास के कार्य में सहायता देना।

4. मार्क्स का राज्य का सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करता है कि आने वाले समय में समाज वर्ग-विहीन ही नहीं होगा, बल्कि राज्य-विहीन भी होगा, क्योंकि राज्य की उत्पत्ति ही वर्ग-विभेद के कारण हुयी है। अतः ज्यों ही वर्ग-विभेद समाप्त हो जाएगा, राज्य भी स्वतः समाप्त हो जाएगा, क्योंकि अब इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाएगी।

5. इस सिद्धान्त के अनुसार धनिक और निर्धन वर्गों का विरोध तथा पूँजीपतियों द्वारा जारी श्रमिकों के शोषण के अन्त का एक ही तरीका है और वह तरीका है-क्रान्ति। मार्क्स के अनुसार क्योंकि पूँजीवादी राज्य शक्ति पर आधारित है और यह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शक्ति का ही सहारा लेता है, अतः इसका अन्त हिंसात्मक एवं क्रान्तिकारी साधनों द्वारा ही किया जा सकता है। यद्यपि मार्क्स लोकतन्त्र के महत्त्व को समझता है, लेकिन इसे वह सम्पूर्ण संघर्ष का एक अंग मानता है। इसीलिए अकेले लोकतान्त्रिक साधनों द्वारा नवीन समाज की स्थापना नहीं की जा सकती है।

आलोचना (Criticism)- यद्यपि मार्क्स का राज्य-विषयक सिद्धान्त व्यावहारिक एवं तथ्यपरक सिद्धान्त प्रतीत होता है, लेकिन इसके बावजूद भी यह दोष-मुक्त नहीं है। इसमें कई दोष हैं, जिसके आधार पर इसकी निम्नलिखित आलोचनाएँ की गयी हैं-

1. मार्क्स एक प्रकार से शक्ति को राज्य का आधार मानता है। उसकी यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि शक्ति राज्य का तत्कालिक आधार हो सकती है; स्थायी आधार नहीं। वस्तुतः राज्य का स्थायी एवं वास्तविक आधार जन-इच्छा ही होती है। इस विषय में ग्रीन का यह कथन उल्लेखनीय है, राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा होती है।" "

2. मार्क्स राज्य को एक ऐसी संस्था मानता है, जिसके सहारे धनिक वर्ग निर्धन वर्ग का शोषण करता हैं। उसके मतानुसार तो राज्य का जन्म ही उस दिन हुआ था, जिस दिन समाज में भूमि और उत्पादन के साधनों पर कुछ लोगों का अधिकार हो गया था और इन लोगों ने दूसरे वर्ग का शोषण प्रारम्भकर दिया था। राज्य का ऐसा चित्रण करना सत्य पर आधारित नहीं है, क्योंकि राज्य शोषण का साधन न होकर, एक कल्याणकारी संस्था है, जिसका उद्देश्य समस्त समाज का कल्याण करना है; कित्ती वर्ग-विशेष का कल्याण करना नहीं।

3. मार्क्स के राज्य-विषयक सिद्धान्त के अध्ययन से ऐसा लगता है कि जैसे वह राज्य को एक घृणित एवं अनैतिक संस्था मानता हो, जब कि राज्य ऐसी संस्था नहीं है। वस्तुतः राज्य एक स्वाभाविक एवं नैतिक संस्था है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का विकास करना है। अरस्तू के शब्दों में, "राज्य का जन्म (मानव) जीवन के लिए हुआ है और यह उत्तम जीवन के लिए कायम है।" निःसन्देह वर्तमान राज्य अनेक ऐसे कार्यों का निष्पादन कर रहा है, जिनसे व्यक्ति के जीवन-स्तर में सुधार हो रहा है।

4. मार्क्स राज्य को एक स्थायी संस्था नहीं मानता है। उसके अनुसार राज्य तब तक बना रहेगा, जब तक समाज दो वर्षों-शोषक एवं शोषित में विभक्त रहेगा। जिस दिन यह वर्ग-विभेद मिट जाएगा, उस दिन राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी और यह स्वयं विलुप्त हो जाएगा, क्योंकि इसके माध्यम से धनिक वर्ग निर्धन वर्ग का शोषण करता है। मार्क्स का यह दृढ़ विश्वास है कि पूँजीवादी युग के विनाश के बाद सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का जो युग कायम होगा, उसमें श्रमिक बलपूर्वक उत्पादन के साधनों पर आधिपत्य कायम कर लेंगे, जिसके परिणामस्वरूप पूँजीपति वर्ग नहीं रहेगा और समाज वर्ग-विहीन हो जाएगा। इसी समय राज्य भी विलुप्त हो जाएगा। किन्तु मार्क्स की यह धारणा सत्य सिद्ध नहीं हुयी, क्योंकि जहाँ भी समाजवादी व्यवस्था कायम की गयी, वहाँ पर राज्य विलुप्त होने के स्थान पर और भी अधिक सुदृढ़ एवं शक्तिशाली हो गया।

समीक्षा (Assessment)- इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मार्क्स के राज्य-विषयक सिद्धान्त की जो आलोचनाएँ की गयी हैं, वे निराधार नहीं हैं, फिर भी इस सिद्धान्त में निहित सत्य को हम नकार नहीं सकते हैं। वस्तुतः मार्क्स का यह कथन सत्य पर आधारित है कि राज-सत्ता पर उन्हीं व्यक्तियों या उसी वर्ग का अधिकार होता है, जो आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली होता है अर्थात् जिसके पास धन-सम्पदा होती है। यहाँ तक कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। लोकतन्त्र में भी वही व्यक्ति चुनाव लड़ सकता है, जिसके पास अपार धन होता है। इसके अतिरिक्त, घोर पूँजीवादी व्यवस्था में उसने राज्य का जो दमनकारी और शोषणकारी रूप देखा, उसके आधार पर ही उसने राज्य के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। फिर भी, हम इतना अवश्य ही कह सकते हैं कि मार्क्स ने जिस राज्य का चित्रण किया है, वह एक आदर्श एवं स्वस्थ राज्य न होकर एक यथार्थवादी एवं रोगग्रस्त राज्य है, क्योंकि ऐसा राज्य ही दमनकारी और शोषणकारी हो सकता है।

Q. मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत का विवेचन कीजिए I (Examine Marx's theory of Historical Materialism.)

उत्तर-कार्ल मार्क्स की धारणा है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त न केवल भौतिक जगत में लागू होता है, बल्कि सामाजिक जगत,

जो भौतिक जगत का एक अंग है, में भी लागू होता है। अतः समाज का विकास इसी के आधार पर होता है और इसी कारण समाज में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। सामाजिक परिवर्तन के विषय में वह अपना अलग सिद्धान्त प्रतिपादित करता है, जिसे वह इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के नाम से पुकारता है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करने से पहले हमें इस सिद्धान्त के नामकरण को स्पष्ट कर लेना चाहिए, क्योंकि इसका यह नाम अत्यन्त भ्रमपूर्ण और अनुचित है। यदि **जी.डी.एच कोल** के सुझाव के अनुसार वह इसका नाम इतिहास की 'यथार्थवादी व्याख्या' रख देता यो 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' रखता, तो उसका अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता और इसके नाम को लेकर किसी तरह की भ्रान्ति नहीं होती। वस्तुतः वे भौतिक वस्तुएँ जिन्हें वह इतिहास की निर्धारक मानता है, '**उत्पादन की शक्तियाँ (Forces of Production)** ही हैं। उत्पादन की इन शक्तियों में वह तीन चीजें शामिल करता है-**संसाधन, उत्पादन के उपकरण तथा मानव शक्ति** । इनको भौतिक शक्तियाँ कहना और यह कहना कि ये इतिहास का निर्धारण करती हैं, भाषा का गलत प्रयोग ही है। वस्तुतः जिन्हें मार्क्स भौतिक शक्तियाँ कहता है, ये आर्थिक शक्तियों ही हैं। इस प्रकार हम इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को इतिहास की आर्थिक व्याख्या कह सकते हैं और ऐसा कहना ही अधिक ठीक है।

इस सिद्धान्त के विषय में मार्क्स की दो मूल मान्यताएँ हैं-**प्रथम**, यह कि भौतिक जगत की भाँति सामाजिक विकास के भी कुछ नियम हैं, जो न तो आकस्मिक होते हैं और न ही मनुष्य की इच्छा पर निर्भर होते हैं। ये ऐसे वस्तुगत (Objective) नियम हैं, जो मनुष्य की इच्छा से पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। **द्वितीय**, सामाजिक परिवर्तन में अर्थात् इतिहास के निर्धारण में भौतिक परिस्थितियों की अहम् भूमिका होती है। दूसरे शब्दों में, जब कभी किसी समाज की भौतिक परिस्थितियों अर्थात् आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन आता है, तो उसी के अनुरूप समाज के ढाँचे में भी परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि ये भौतिक परिस्थितियाँ या 'उत्पादन की शक्तियाँ' ही समाज के सामाजिक व राजनीतिक ढाँचे, कानून, धर्म एवं नैतिकता आदि को निर्धारित करती हैं।

मार्क्स की धारणा है कि मनुष्य उत्पादन का कार्य करते समय समाज में विशेष प्रकार सम्बन्ध विकसित कर लेता है। उत्पादन पर आधारित ये सम्बन्ध ही सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। उसके कहने का अभिप्राय यह है कि आर्थिक सम्बन्ध ही समस्त सामाजिक सम्बन्धों का आधार होते हैं। मार्क्स के शब्दों में, "सभी सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक सम्बन्ध, सभी धार्मिक तथा राजनीतिक व्यवस्वाएँ, सभी तैद्धान्तिक दृष्टिकोण जो इतिहास के दौरान उभरते हैं, जीवन की भौतिक दशाओं से ही उत्पन्न होते हैं।" मार्क्स का कहना है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था का आधार उत्पादन की शक्तियों होती हैं और कोई भी सामाजिक व्यवस्था तब तक समाप्त नहीं होती है, जब तक उत्पादन की शक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं आ जाता है। उसकी धारणा है कि उत्पादन की शक्तियों का प्रभावकारी ढंग से प्रयोग करने के लिए समाज स्वयं को विशेष प्रकार के सम्बन्धों के रूप में संगठित कर लेता है। इन्हें वह '**उत्पादन के सम्बन्ध' (R**elations of Production) की संज्ञा देता है। हम कह सकते हैं कि '**उत्पादन की शक्तियाँ',** जिनसे उसका अभिप्राय आर्थिक तत्त्वों से है, 'उत्पादन के सम्बन्धों' अर्थात् समाज के ढाँचे को निर्धारित करती हैं।

मार्क्स के अनुसार उत्पादन के सम्बन्ध सदैव उत्पादन की शक्तियों पर निर्भर करते हैं। इसका अभिप्रायः यह हुआ कि किसी समाज की अर्थव्यवस्था ही उसकी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तया नैतिक व्यवस्था, दर्शन, कला एवं साहित्य को निर्धारित करती है। अतः जैसे-जैसे समाज की अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आता है तद्नुरूप ही उसकी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं नैतिक व्यवस्था, दर्शन, कला और साहित्य बदल जाते हैं। इस प्रकार आर्थिक तत्त्व, जिसे मार्क्स अन्तः संरचना (Sub-structure) कहता है, ही सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था, जिसे वह ऊपरी संरचना (Super-structure) के नाम से पुकारता है, का आधार है। संक्षेप में, समाज की अर्थव्यवस्था ही उसके इतिहास को निर्धारित करती है। यही मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या या आर्थिक व्याख्या है।

यहाँ यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मार्क्स के अनुसार कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जब 'उत्पादन की शक्तियों में तो परिवर्तन हो जाता है, किन्तु तद्नुरूप 'उत्पादन के सम्बन्धों' में परिवर्तन नहीं आता है अर्थात् जब 'उत्पादन के सम्बन्ध' 'उत्पादन की शक्तियों से पीछे रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में इन दोनों के मध्य विरोध उत्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में क्रान्ति ही उस समाज को इस अवांछित स्थिति से बाहर निकालती है। इसीलिए समाज में प्रायः क्रान्तियों हुआ करती हैं।

सामाजिक विकास की क्रमिक अवस्थाएँ (Sequential Stages of Social Development)-इतिहास की आर्थिक व्याख्या के आधार पर मार्क्स ने सम्पूर्ण सामाजिक विकास या मानव इतिहास को निम्नलिखित छः क्रमिक अवस्थाओं में विभक्त किया है। उसके मतानुसार इनमें से चार अवस्थाएँ तो गुजर चुकी हैं ओर पाँचवीं चल रही है और छठी अवस्था का आना अभी बाकी है। मार्क्स द्वारा कल्पित इन अवस्थाओं की विवेचना इस प्रकार की जा सकती है-

1. आदिम साम्यवादी अवस्था (Primitive Communitarian Stage)-मार्क्स के मतानुसार यह सामाजिक विकास की प्रथम अवस्था है। इस अवस्था में उत्पादन के साघन बहुत ही साधारण किस्म के थे। मनुष्य पत्थर के औजारों और धनुष-बाण के द्वारा जंगली पशुओं का शिकार करके अपना पेट भरते थे। इस अवस्था में भोजन प्राप्त करने व जंगली पशुओं तथा पास-पड़ोस के कबीलाई समाजों से अपनी रक्षा करने के लिए मनुष्य झुण्ड बनाकर रहते थे। इस अवस्था में उत्पादन की शक्तियों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व एवं नियन्त्रण था। इस युग में न तो निजी सम्पत्ति की प्रथा थी और न ही विवाह और परिवार की संस्थाएँ थीं। इस अवस्था में सभी व्यक्ति समान थे और समाज में किसी प्रकार की आर्थिक विषमता न थी, इसीलिए कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का शोषण नहीं करता था।

2. दास अवस्था (Slave Stage)- मार्क्स के मतानुसार कि धीरे-धीरे आदिम साम्यवादी अवस्था में परिवर्तन आया, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन की शक्तियों पर कुछ शक्तिशाली एवं समर्थ लोगों का अधिकार हो गया और वे इनके स्वामी बन गए और जो निर्बल और सामर्थ्यहीन व्यक्ति थे, वे उत्पादन की शक्तियों से वंचित हो गए और इसी कारण वे शक्तिशाली और सम्पत्तिवान व्यक्तियों के दास के रूप में कार्य करने लगे। इस अवस्था में समाज में वर्ग-विभेदीकरण हो गया और समाज दो वर्गों स्वाभी और दास में विभक्त हो गया। स्वामी लोगों के हाथों में इतनी अधिक शक्तियाँ आ गयीं कि वे न केवल दासों का निर्वाध रूप से शोषण करने लगे, बल्कि इनका क्रय-विक्रय भी करने लगे। इस युग में वर्ग-विभेदीकरण के कारण आदिम साम्यवादी युग की स्वतन्त्रता और समानता पूर्णतः समाप्त हो गयी। इसी अवस्था में राज्य की स्थापना भी हुई, जिस पर स्वामी वर्ग का नियन्त्रण स्थापित हो गया।

3. सामन्तवादी अवस्था (Feudal Stage)-मार्क्स की मान्यता के अनुसार जैसे-जैसे उत्पादन के साधनों का विकास हुआ, लोग खेती और बागवानी करने लगे और इस कार्य हेतु पशु पालने लगे। इस युग में सम्पूर्ण भूमि पर गिने-चुने सामन्तों का अधिकार हो गया, लेकिन किसान भी भूमि से जुड़ा रहा और वह समान्त की अनेक प्रकार से सेवा करने लगा। इस युग में किसान दास की अपेक्षा काफी स्वतन्त्र होता था और वह कुछ निजी सम्पत्ति भी रख सकता था। इस युग में दस्तकार भी अपने औजारों के स्वामी होते थे। इस युग में निली सम्पत्ति की संस्था पहल से अधिक विकसित हो चुकी थी। यद्यपि इस युग में शोषण का रूप इतना भयंकर नहीं था, जितना कि दास युग में था, लेकिन इसमें भी दोनों वर्गों-सामन्त और किसान के मध्य निरन्तर संघर्ष चलता रहता था।

4. पूँजीवादी अवस्था (Capitalist Stage)- यूरोप में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में औद्योगिक क्रान्ति हुई, जिसके कारण पुराने तरह की दस्तकारियों समाप्त होने लगीं और उनका स्थान बड़े-बड़े उद्योग लेने लगे। इन उद्योगों में दूर-देहात से उखड़े हुए लोग आकर कार्य करने लगे। इस समय उद्योगों का स्वामित्व समाज के गिने-चुने व्यक्तियों के हाथों में आ गया और शेष लोग इनके उद्योगों में श्रमिक के रूप में कार्य करने लगे। इन उद्योगों के स्वामी पूँजीपति लोग अपने कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों का भरपूर शोषण करते थे और इस शोषण में राज्य और उसके सभी उपकरण इनका साथ देते थे। इस अवस्था में पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग दोनों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता था।

5. सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की अवस्था (Stage of the Dictatorship of Proletariat)-मार्क्स का यह दृढ़ विश्वास है कि पूँजीवादी युग में जारी तीव्र वर्ग-संघर्ष के कारण श्रमिकों में चेतना का उदय होगा और वे क्रान्ति के द्वारा उत्पादन के साधनों (कारखानों) पर अपना अधिकार कर लेंगे और इसके फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का युग कायम हो जाएगा। इस समय न केवल आर्थिक व्यवस्था पर, बल्कि राजनीतिक सत्ता पर भी इस वर्ग का आधिपत्य कायम हो जाएगा, जिसके माध्यम से यह वर्ग पूँजीपति वर्ग का दमन करने का प्रयास करेगा। मार्क्स के अनुसार यह अवस्था एक सक्रमणकालीन अवस्था होगी।

6. वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन अवस्था (Classless and Stateless Stage)-मांर्क्स के मतानुसार जब सर्वहारा वर्ग पूँजीपतियों और क्रान्ति-विरोधी तत्त्वों का पूरी तरह सफाया कर देगा, तो समाज में वर्ग-विभेदीकरण समाप्त हो जाएगा और समाज में एक ही वर्ग रह जाएगा। इस वर्ग-विहीन समाज में राज्य की कोई आवश्यकता न रह जाएगी, क्योंकि राज्य के माध्यम से धनिक वर्ग, निर्धन वर्ग का शोषण करता है। अतः राज्य स्वतः ही विलुप्त हो जाएगा। इस प्रकार से एक वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज की स्थापना हो जाएगी। मार्क्स के मतानुसार यह एक सच्ची साम्यवादी अवस्था और साथ ही अन्तिम सामाजिक अवस्था भी होगी।

आलोचना (Criticism) — कार्ल मार्क्स की इतिहास की भौतिक (आर्थिक) व्याख्या अथवा 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' के सिद्धान्त में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक सत्य निहित है और इसने समाज के अध्ययन को बहुत अधिक प्रभावित भी किया है, फिर भी विद्वानों द्वारा इस सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की गयी हैं। इनमें से कुछ प्रमुख आलोचनाएँ हैं—

1. एक-पक्षीय व्याख्या (One-Sided Interpretation)-मार्क्स ने इस सिद्धान्त के अन्तर्गत इतिहास की व्याख्या करते समय अकेले आर्थिक तत्त्व पर ही बल दिया है और अन्य उत्त्वों की सर्वथा उपेक्षा की है। वस्तुस्थिति यह है कि मानव जीवन इतना जटिल होता है कि

इसकी व्याख्या किसी एक तत्त्व के सन्दर्भ में नहीं, बल्कि धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति एवं राजनीति आदि अनेक तत्त्वों के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास के निर्धारण में आर्थिक तत्त्व के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वस्तुतः प्रत्येक ऐतिहासिक घटना के पीछे आर्थिक तत्त्व ही नहीं होता, बल्कि गैर-आर्थिक तत्त्व भी से प्रेरक होते हैं।

2. उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों के मध्य निश्चित सम्बन्धों का अभाव (Lack of Exact Relationship between Forces of Production and Relations of Production)-मार्क्स अपने इस सिद्धान्त में इस बात पर बल देता है कि 'उत्पादन की शक्तियों' और 'उत्पादन के सम्बन्धों' के मध्य एक निश्चित सम्बन्ध होता है, किन्तु वस्तुस्थिति सदैव ऐसी नहीं होती है। कभी-कभी तो समान उत्पादन की शक्तियों होने के बावजूद भी समान उत्पादन के सम्बन्ध देखने को नहीं मिलते हैं। यही कारण है कि अमेरिका, चीन एवं ब्रिटेन में उत्पादन के कार्य में समान तकनीकें प्रयोग किए जाने के बाद भी इनमें सामाजिक संगठनों का रूप एक जैसा नहीं है। संक्षेप में, हम कह सकते है कि समान आर्थिक दशाएँ अलग-अलग प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक सांस्कृतिक एवं कानूनी संस्थाओं एवं अलग-अलग प्रकार के दर्शन, साहित्य एवं कला को जन्म दे सकती हैं।

3. उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन के कारणों की व्याख्या का अभाव (Lack of Interpretation of Reasons of Change in Forces of Production) — मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त में यह प्रतिपादित किया है कि उत्पादन की शक्तियाँ, जिनमें वह प्राकृतिक संसाधनों, तकनीकों (उत्पादन के साधन) एवं मानव-शक्ति को शामिल करता है, ही समाज का ढाँचा अथवा रूप तय करती हैं, किन्तु उस ने इस बात की व्याख्या नहीं की है कि उत्पादन के साधनों को कौन परिवर्तित करता है। निःसन्देह इस तत्त्व में परिवर्तन मानव मस्तिष्क के द्वारा ही किया जात है। यदि हम समाज के संगठन अथवा स्वरूप के निर्धारण में मानवीय तत्त्व को भूमिका को स्वीकार कर लेते हैं, तो इससे इतिहास की आर्थिक व्यवस्था का उसका यह सिद्धान्त ही ध्वस्त हो जाएगा।

4. संयोग के तत्त्व की उपेक्षा (Neglect of Contingent Element)- मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या के इस सिद्धान्त में संयोग के तत्त्व की सर्वथा उपेक्षा की गयी है, जब कि इतिहास के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि अनेक आकस्मिक एवं अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण घटनाओं ने इतिहास के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। उदाहरण के लिए गौतम बुद्ध के जीवन को एक शव को श्मशान तक ले जाते हुए देखने की आकस्मिक घटना ने पूरी तरह बदल डाला था और इसी से प्रभावित होकर बुद्ध ने एक नए धर्म का सूत्रपात्र किया, जिसने विश्व इतिहास को व्यापक रूप से प्रभावित किया। इसी प्रकार से यदि जर्मनी लेनिन को 1917 में रूस वापस लौटने की अनुमति न देता, तो विश्व-प्रसिद्ध रूस की क्रान्ति घटित न हुयी होती और आज न केवल रूस का, बल्कि विश्व इतिहास भी दूसरा ही हुआ होता।

5. राजनीतिक सत्ता सदैव आर्थिक सत्ता के अधीन नहीं (Political Power is not Always Subjected to Economic Power)- इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का मार्क्स का यह सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि किसी वर्ग का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण हो जाने पर, उसी वर्ग का राजनीतिक सत्ता पर भी नियन्त्रण हो जाता है। वस्तुतः यह काफी सीमा तक सत्य भी है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आर्थिक सत्ता सदैव ही राजनीतिक सत्ता को निर्धारित करती है या राजनीतिक सत्ता सदैव ही आर्थिक सत्ता के अधीन होती है। वस्तुतः कभी-कभी आर्थिक शक्ति और राजनीतिक शक्ति एक-दूसरे से पृथक् भी हो सकती हैं।

6. इतिहास का गलत विभाजन (Wrong Division of History)- मार्क्स ने मनमाने ढंग से मानव समाज के इतिहास को छः अवस्थाओं या युगों में विभक्त किया है। वस्तुतः मार्क्स के इस विभाजन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है अर्थात् इतिहास के उसके विभाजन में कोई वस्तुनिष्ठता नहीं है। इसके अलावा, उसका यह कहना कि चार युग बीत चुक हैं, पाँचवां चल रहा है और छठा युग अभी आना बाकी है, तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि न तो इतिहास का क्रम निर्धारित है और न ही इसके विषय में कोई भविष्यवाणी की जा सकती है।

7. मानव तत्त्व की उपेक्षा (Neglect of Human Factor)- मार्क्स इतिहास की आर्थिक व्याख्या के अपने सिद्धान्त में इस बात पर बल देता है कि आर्थिक परिस्थितियाँ ही इतिहास को निर्धारित करती हैं। इस तरह वह इतिहास के निर्धारण में मानव तत्त्व की उपेक्षा करता है। दूसरे शब्दों में, वह इतिहास के निर्धारण में या समाज के बदलने में मानवीय तत्त्व की भूमिका को महत्त्वपूर्ण नहीं मानता है। जब कि अनेक महापुरुष ऐसे होते हैं, जो इतिहास की धारा को बदल देते हैं। मार्क्स स्वयं एक ऐसी ही शख्सियत था।

निष्कर्ष (Conclusion) - इतिहास की भौतिकवादी अथवा आर्थिक व्याख्या के अपने इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स इस बात पर बल देता है कि इतिहास के निर्धारण में आर्थिक तत्त्व की भूमिका होती है, अन्य तत्त्वों की नहीं। निःसन्देह इतिहास के निर्धारण में आर्थिक तत्त्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है; किन्तु इसके निर्धारण में गैर-आर्थिक तत्त्वों की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती है। इस दृष्टि से यह

कहना ही उचित होगा कि इतिहास को निर्धारित करने में अकेले आर्थिक तत्त्व की भूमिका भले ही न हो, किन्तु इसकी प्रमुख भूमिका अवश्य ही होती है। वस्तुतः आर्थिक तत्त्व की उपेक्षा करके इतिहास का सही अध्ययन नहीं किया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि समाज और उसकी संस्थाओं के विकास में आर्थिक तत्त्व एक आधारभूत तत्त्व होता है, अतः किसी समाज की आर्थिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही उसके इतिहास का अध्ययन किया जाना चाहिए। इस प्रकार हम मार्क्स के इस सिद्धान्त से सहमत तो है; किन्तु पूर्णतया सहमत नहीं है।

Q. वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class-struggle)

संसार का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। मार्क्स के इस कथन की व्याख्या करो। ("The History of the world is the history of class-struggle." Describe this statement of Marx.)

अथवा

मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या करो। (Critically explain the Marx's theory of class-struggle.)

उत्तर : मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त उसके इतिहास की भौतिकवादी अथवा आर्थिक व्याख्या में भी स्पष्ट होता है। उसने अपने वैज्ञानिक समाजवाद को स्थापित करने के लिए अन्य सिद्धान्तों के साथ-साथ वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का सहारा भी लिया है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या में उसने जिन छः अवस्थाओं का वर्णन किया है। उसमें से चार में वह वर्ग-संघर्ष का वर्णन करता है। मार्क्स का वर्ग-संघर्ष इतिहास की दूसरी अवस्था, जिसे उसने दास अवस्था का नाम दिया है, से आरम्भ होता है और पांचवी अवस्था, जिसे उसने सर्वहारा वर्ग की तानाशाही या साम्यवाद की अवस्था का नाम दिया है, तक चलता है। इन चारों अवस्थाओं में मार्क्स ने दो विरोधी वर्गों का वर्णन किया है। जिनके हित एक समान नहीं है। इनमें से एक वर्ग के पास उत्पादन के सभी साधन हैं और दूसरे वर्ग के पास उत्पादन के साधन न होने के कारण वे इसके अधीन है। इन वर्गों को उसने संघर्षरत बताया है। पहला वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता है और दूसरा वर्ग अपने हितों की रक्षा के लिए दूसरे वर्ग से संघर्ष करता है। मार्क्स ने अपनी पुस्तक साम्यवादी घोषणा पत्र में कहा है कि- "स्थापित समाज का सम्पूर्ण इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।" (The history of all hitherto existing society is the history of class-struggle." -Karl Marx in Communist Manifesto)।

मार्क्स का कहना है कि इतिहास को राष्ट्रों, व्यक्तियों और सैनिकों के युद्धों के वर्णन के रूप में स्थापित करना गलत है। मार्क्स के द्वारा इतिहास की भौतिकवादी और आर्थिक व्याख्या इस सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त के रूप को स्पष्ट करती है। इरा सामाजिक परिवर्तन का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन वर्ग-संघर्ष है। मार्क्स का कहना है कि समाज के सामाजिक सम्बन्धों का आधार समाज की आर्थिक व्यवस्था है आर्थिक दृष्टि से समाज में दो वर्ग, जिनके पास हैं और जिनके पास नहीं हैं, में विभाजित रहता है। समाज के इतिहास की पहली अवस्था में कोई वर्ग नहीं थे। मनुष्य को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती थी। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव था और उत्पादन के साधनों पर समाज का सामूहिक अधिकार होता था। दूसरी अवस्था में ज्यों ही जनसंख्या का दबाव बढ़ा और उत्पादन के साधनों में परिवर्तन आया तो इसके परिणामस्वरूप दो वर्ग स्थापित हो गये। एक वर्ग मालिकों का था जिनके पास उत्पादन के साधन थे और उन्होंने राजनैतिक सत्ता पर अधिकार करके अन्य व्यक्तियों को अपना दास बना लिया। सबसे पहला वर्ग-संघर्ष मालिक और दासों के बीच में था।

मार्क्स ने अपनी पुस्तक साम्यवादी घोषणा पत्र में विभिन्न अवस्थाओं में स्थापित वर्ग संघर्ष का वर्णन करते हुए कहा है कि- "स्वतंत्र और दास, अभिजन और जनसाधारण, सामान्त और किसान, गिल्ड मास्टर और जर्नीमैन, एक शब्द में शोषक और शोषित हमेशा एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े थे। यह संघर्ष कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष था। इस संघर्ष का परिणाम प्रत्येक समय या तो कान्तिकारी रूप में सम्पूर्ण समाज की पुनसंरचना या संघर्षरत वर्गों के सामान्य बिनाश के रूप में होता था।"

कार्ल मार्क्स ने अपने वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के माध्यम से निम्न चीजों को स्थापित करने का प्रयत्न किया है-

1. इतिहास में वर्ग-संघर्ष (Class-struggle in history): मार्क्स का कहना है कि सामाजिक इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है और इसकी अन्तिम अवस्था पूँजीवाद की अवस्था है जिसका उद्देश्य पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों का शोषण करना और अधिक से अधिक कमाना है।

2. साम्राज्यवाद पूँजीवाद का परिणाम (Imperialism is a result of capitalism): पूँजीवाद में स्थापित अधिकाधिक लाभ कमाने के उद्देश्य ने इसमें आर्थिक मंदी को जन्म दिया है। क्योंकि पूँजीपति वर्ग ने अधिक लाभ कमाने के लिए उत्पादन को बढ़ा दिया है। अब पूँजीपति अपनी आर्थिक मंदी को दूर करने के लिए बड़े-बड़े बाजारों की तालाश में हैं और इस तलाश ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया है।

3. छोटे पूँजीपतियों का अस्तित्व (Existence of petty bourageous): पूँजीवादी व्यवस्था में वर्गों का विभाजन अभी पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हुआ है क्योंकि एक ऐसा वर्ग है जो छोटे-पूँजीपतियों का वर्ग है लेकिन यह वर्ग भी शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा।

4. पूँजीवादी समाज में संघर्ष आरम्भ (Begining of struggle in capitalism) : पूँजीवाद के बढ़ते प्रभाव के कारण मजदूरों ने अपनी गरीबी को दूर करने के लिए पूँजीपतियों से संघर्ष आरम्भ कर दिया है।

5. सर्वहारा की तानाशाही (Dictatorship of the proliteriate): मार्क्स की मान्यता है कि पूँजीवादी अवस्था में पूँजीपतियों जऔर मजदूरों के बीच में संघर्ष का परिणाम यह होगा कि मजदूर वर्ग अथवा सर्वहारा वर्ग अपने हितों की रक्षा के लिए सत्ता पर अधिकार करके सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित करेंगे।

6. साम्यवाद की स्थापना (Establishment of communism): सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होने के बाद सर्वहारा वर्ग पूँजीवाद को समाप्त कर देगा और उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण करके उस पर व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करके सामूहिक या समाज का स्वामित्य स्थापित किया जाएगा। यह कार्य सम्पन्न होने के बाद सर्वहारा वर्ग भी सत्ता छोड़ देगा और राज्य का अन्त हो जाएगा तथा एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना की जाएगी जिसमें न वर्ग होगा और न ही कोई संघर्ष क्योंकि इसमें शोषण को समाप्त कर दिया जाएगा।

आलोचना (Criticism): मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचना निम्न प्रकार से की जा सकती है-

1. मार्क्स के वर्ग-संघर्ष की आलोचना सर्वप्रथम इस आधार पर की जाती है कि मार्क्स ने अवस्थाओं के अपने वर्ग में दो मुख्य विरोधी वर्गों के अस्तित्व को मान्यता दी। यह सत्य है कि समाज में वर्गों का अस्तित्व रहा है लेकिन यह गलत है कि ये वर्ग दो ही थे तथा आपस में विरोधी थे।

2. मार्क्स ने अपने वर्ग निर्धारण में केवल आर्थिक सम्बन्धों को ही महत्त्व दिया है। मार्क्स ने जाति, धर्म, नस्त आदि पर आधारित वर्गों को कोई मान्यता नहीं दी है। व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पक्षों में से उसका आर्थिक पक्ष केवल एक भाग है। व्यक्ति अपना निर्धारण केवल अपने आर्थिक स्तर के आधार पर ही नहीं करता।

3. मार्क्स ने संसार के सम्पूर्ण इतिहास को वर्ग-संघर्ष का इतिहास माना है। यह सत्य नहीं है। समाज का इतिहास जिस प्रकार से प्रगतिशील रहा है उसमें संघर्ष की अपेक्षा सहयोग का अधिक योगदान रहा है।

4. मार्क्स ने दो विरोधी वर्गों के अस्तित्व का तो वर्णन किया है लेकिन इन विरोधी वर्गों के गुण और विशेषताओं का वर्णन नहीं किया है।

5. मार्क्स ने अपने सिद्धान्त में केवल आर्थिक व्यवस्था को ही महत्त्व प्रदान किया है उसने व्यक्ति की सामाजिक और राष्ट्रीयता की भावना को कोई महत्त्व नहीं दिया है।

6. मार्क्स ने क्रान्ति के अपने सिद्धान्त के माध्यम से आर्थिक समानता पर आधारित वर्ग-विहीन समाज की जो कल्पना की है। वह ठीक नहीं है क्योंकि क्रांति अराजकता को भी जन्म दे सकती है।

7. मार्क्स ने अपने वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के माध्यम से घृणा और द्वेष की भावना को जन्म दिया है। व्यक्ति प्रत्येक समय अपने हितों के लिए संघर्षरत नहीं रहता।

निष्कर्ष (Conclusion) : मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष का वर्णन दास अवस्था से आरम्भ करके पूँजीवादी अवस्था में उसके अन्त की कल्पना की और इसके अन्त के लिए व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिसमें उसने यह बताया है कि किस प्रकार से पूँजीवाद अपने आन्तरिक भार से स्वयं ही समाप्त हो जाएगा। मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में अनेक व्यवहारिक कमियाँ हमें देखने को मिलती हैं, लेकिन इसके बावजूद इससे एक बात अवश्य प्रकट होती है कि मार्क्स ने इसके माध्यम से श्रमिकों के शोषण को उजागर किया और मानवता को शोषण से मुक्त कराने का मार्ग सुझाया।